

नई दिल्ली

रविवार, 13 सितंबर, 2026, मूल्य-15.00

राष्ट्रीय

वर्ष-8 अंक-47 पृष्ठ- 8

RNI: DELHN / 2018 / 76679

Postal Reg. No. DL(C)-05/1425/2025-27

License To Post Without Pre Payment No. U(C)-164/2025-27

Magazine Post Reg. No. DL(DS)-31/MP/25-26-27



योगी के पास बताने को कुछ नहीं, इसलिए सांप्रदायिक विभाजन पर जोर, माया को भी कुछ समझ नहीं आ रहा

कूटनीतिक बारूदी सुरंग के मुहाने पर भारत

www.navjivanindia.com | @navjivanindia | www.nationalheraldindia.com | www.qaumiawaz.com



दोजख हो गई जिंदगी

एसआईआर मैपिंग के कैसे-कैसे सच

नंदलाल

बिहार निर्वाचन आयोग की 25 जून 2025 को जारी प्रेस विज्ञप्ति में मैपिंग शब्द का अता-पता नहीं मिलता। फ़ेमिली ग्रुपिंग शब्द का जिक्र जरूर है, जिसका आशय मतदाता सूची में एक ही परिवार के सदस्यों को क्रमवार दर्शाने से है। लेकिन यहां हर मतदाता से 2003 की मतदाता सूची से जुड़ी जानकारी मांगी गई। यही फ़ेमिली ग्रुपिंग दूसरे चरण (12 राज्य/केन्द्रशासित प्रदेश) में बतौर मैपिंग एसआईआर की रीढ़ बन गई। बाद में जन्मे या जिनका नाम 2002-03 की मतदाता सूची में नहीं था, उनसे उनके रिश्तेदारों के बारे में जानकारी मांगी गई। सारा जोर हर मतदाता की मैपिंग पर था। लेकिन एसआईआर के तीसरे चरण का हिस्सा बनी दिल्ली में फॉर्म भरने और मैपिंग से संबंधित जानकारी देने के बावजूद लोगों के नाम ड्राफ्ट मतदाता सूची से गायब हैं।

ओखला विधानसभा क्षेत्र की मतदाता मंताशा अफ़रोज माता-पिता और दो बहनों के साथ शाहीन बाग में रहती हैं, यहीं जन्मी हैं। दिल्ली यूनिवर्सिटी की इस छात्रा का नाम माता-पिता से जुड़ी सारी जानकारी देने के बावजूद ड्राफ्ट लिस्ट में नहीं है। उन्हें एएसडीडी लिस्ट में परमानेंटली शिफ्टेड बताया गया है। बीएलओ ने सफ़ाई दी कि 'उसने अपना काम पूरा किया, उसके बाद जो हुआ, वह आयोग के बड़े अधिकारी जानें।' पांच लोगों का यह परिवार तीन अलग-अलग बीएलओ के साथ जुड़ाता रहा।

पटपड़गंज में 24 वर्षीय काजल का नाम 'परमानेंटली शिफ्टेड' में डालकर हटा दिया गया। उसने फॉर्म ऑनलाइन भरा था, और 2025 के विधानसभा चुनाव में वोट भी दिया। पुराना एपिक कार्ड भी है। एन्युमरेशन फॉर्म में उन्होंने अपनी मां का भाग, क्रम संख्या, एपिक नंबर भी दिए, लेकिन नाम गायब। मां का नाम जरूर ड्राफ्ट लिस्ट में है, जबकि दोनों एक ही पते पर रहती हैं। आयोग की 'फ़ेमिली ग्रुपिंग' की यही हक़ीक़त है।

नई दिल्ली स्थित प्रेस क्लब में 8 सितंबर को वोट अधिकार मंच की प्रेस कॉन्फ़्रेंस में दर्जनों ऐसे भुक्तभोगी मिले। 40 साल से ग्रेटर कैलाश के जगदंबा कैप की झुगियों में रह रही पुष्पा देवी 'परमानेंटली शिफ्टेड' बताई गई हैं। उन्होंने 2025 में वोट भी डाला था, लेकिन उनके नाम का एन्युमरेशन फॉर्म जारी नहीं हुआ। इसी कैप की 71 साल की विरमा देवी मृत घोषित हो गई हैं। मयूर विहार के यमुना खादर क्षेत्र की पूनम को फॉर्म तो मिला, वापस लेने कोई नहीं आया। पूनम फॉर्म लेकर इंतज़ार कर रही हैं, लेकिन आयोग के अनुसार वह 'अनदेसेबल' है। 70 वर्षीय दिल्ली निवासी महिला फोटो जर्नलिस्ट संवेंश 30 साल से एक ही ठिकाने पर रह रही हैं लेकिन 'अनदेसेबल' हैं। बीएलओ का कहना है कि उनका फॉर्म तो उसने खुद ही भर दिया था, फिर भी नाम ड्राफ्ट लिस्ट से कैसे हटा कोई नहीं जानता।'

दिल्ली के सीईओ द्वारा जारी आंकड़ों के मुताबिक एसआईआर पूर्व दिल्ली में कुल मतदाता 1.45 करोड़ थे,

जबकि ड्राफ्ट लिस्ट में 97.5 लाख ही शामिल हैं। एएसडीडी लिस्ट की परमानेंटली शिफ्टेड/एक्सेट/अन्य कैटेगिरी में 43.2 लाख (47.5 लाख का कुल 29.86 प्रतिशत) लोग हैं। मृत वोटर 2.8 लाख और डुप्लीकेट 1.4 लाख रहे। ये 'अनकलेक्टेबल एन्युमरेशन फॉर्म' के तौर पर चिह्नित हैं। आयोग का तर्क है कि ऐसे मतदाताओं से फॉर्म वापस नहीं मिले या बीएलओ उन्हें खोज नहीं पाए। हालांकि 31 अगस्त 2026 की विज्ञप्ति में दिल्ली के सीईओ का दावा सही है कि 30 जून से 17 अगस्त 2026 के बीच 1.45 करोड़ मतदाताओं के बीच 100 प्रतिशत एन्युमरेशन फॉर्म बांटे गए तो सवाल है कि क्या मतदाता फॉर्म लेकर गायब हो गए?

बात इतनी ही नहीं है: दिल्ली में ड्राफ्ट लिस्ट जारी हुई तो मतदाताओं की भाग संख्या बदली मिली। एएसडीडी लिस्ट में किसका नाम है, किसका नहीं, जांचने के लिए सबको नया पार्ट नंबर नहीं पता, क्योंकि एएसडीडी लिस्ट नए पार्ट नंबर पर आधारित है। ज्यादातर मतदाता जानते ही नहीं हैं कि उनका नया पार्ट नंबर क्या है, और अपना नाम कैसे खोजें? जबकि बीएलओ-बीएलए मीटिंग के मिनट्स पुराने पार्ट नंबर पर आधारित हैं। यह पैच सुलझाने को कोई तैयार नहीं।

बीएलओ के काम करने का तरीका भी कम अजब-गजब नहीं है। ओखला के आदिल खान ने अपने बीएलओ से पूछा कि 'हम घर लोग साथ रहते हैं, फिर अलग-अलग बूथ क्यों मिला'। इस पर बीएलओ ने कह दिया कि आपकी पत्नी और बच्चों का वोट कार्ड बाद में बना, इसलिए ऐसा हुआ।' अब अगर सत्यापन और मैपिंग का उद्देश्य परिवार और पुराने मतदाता रिकॉर्ड के जरिये मतदाता की पहचान स्थापित करना था, तो एक ही परिवार के सदस्यों की जांच चार अलग-अलग बीएलओ के बीच क्यों बंटी?

आयोग ने दिल्ली में एसआईआर की आधिकारिक घोषणा

क्या दिल्ली में भरे जा सकने वाले 47.5 लाख 'फॉर्म 6' आवेदनों को प्रोसेस और वेरिफाई करने के लिए बीएलओ के पास एक महीने का समय काफी है?



14 मई 2026 को की। हालांकि वोटर मैपिंग पहले ही जारी थी। ओखला में कांग्रेस के बीएलए-2 जान मोहम्मद चौहान बताते हैं कि 'जनवरी से अप्रैल के बीच बीएलओ लोगों से सम्पर्क में थे और 2002 की वोटर लिस्ट से जुड़ी जानकारी और डॉक्यूमेंट मांग रहे थे। समय पर उपलब्ध न होने की स्थिति में मतदाता ने अगर बाद में बीएलओ से सम्पर्क नहीं किया, दस्तावेज नहीं दिए तो नाम काट देते।' चौहान का दावा है कि इस तरह लगभग 20 हजार नाम काटे गए। राजनीतिक और सामाजिक कार्यकर्ता योगेंद्र यादव कहते हैं कि 'एसआईआर से पहले वोट काटने का एकमात्र जरिया फॉर्म-7 था, वह भी तब जब कोई व्यक्ति किसी के नाम पर आपत्ति करे, और उसमें भी मतदाता को सुने बिना नाम नहीं काटा जा सकता।'

ओखला विधानसभा के पार्ट नंबर 172 (पुराना नंबर) वाले बूथ पर नाम हटाने का पैटर्न देखें, तो यहां एसआईआर शुरू होने से पहले 1874 वोटर थे, इनमें सिर्फ 936 फॉर्म बीएलओ को वापस मिले, जबकि 827 मतदाताओं को परमानेंटली शिफ्टेड बताया गया है। 69 वोटर मौजूद नहीं हैं, 13 मृत हैं और 28 डुप्लीकेट। 1 वोटर अन्य कैटेगिरी में है, जिसकी पहचान ऐसे व्यक्ति के तौर पर हुई, जिसका मकान ध्वस्त कर दिया गया है या उसने फॉर्म साइन करने से इन्कार कर दिया। इसी विधानसभा के मदनपुर खादर क्षेत्र स्थित हड़्डो मोहल्ला के पार्ट नंबर 195 पर एसआईआर से पहले 1509 वोटर थे, लेकिन 352 फॉर्म ही वापस मिले। यहां शिफ्टेड की संख्या 1136 है, जबकि एक्सेट और डुप्लीकेट ज़ीरो। अन्य की कैटेगिरी में 30 मतदाता हैं, जिनका नाम कहीं और की मतदाता सूची में है। सवाल है कि बीएलओ अगर यह पात्र कर सकता था कि 30 मतदाताओं के नाम कहीं अन्यत्र रजिस्टर हैं तो 1136 'शिफ्टेड' मतदाताओं के बारे में वह यही जानकारी क्यों नहीं दे सका? वे मतदाता गए कहां?

चांदनी चौक क्षेत्र के विजय घाट स्थित जेजे बेला एस्टेट में रहने वाले 500 से ज्यादा लोगों ने एन्युमरेशन फॉर्म भरा, लेकिन ड्राफ्ट सूची में सब गायब हैं। बीएलओ-बीएलए मीटिंग मिनट्स के मुताबिक एसआईआर शुरू होने के समय इस पार्ट नंबर 33 (निगम प्रतिमा विद्यालय अंगूरी बाग, लाल

किला बूथ) पर कुल 729 वोटर थे, लेकिन एसआईआर के बाद सिर्फ 1 वोटर बचा। ड्राफ्ट लिस्ट में बूथ का नंबर बदलकर 38 हो गया है और पास के हनुमान मंदिर के महंत कंचन गिरी इसके एकमात्र मतदाता। स्थानीय निवासी कमल के दादा और पिता इसी स्थान पर 1961 से वोट डाल रहे थे, लेकिन वे भी ड्राफ्ट लिस्ट से बाहर हैं। 729 में 632 लोग 'शिफ्टेड' हैं, 1 अनुपस्थित, 42 मृत और 10 डुप्लीकेट कैटेगरी में। 43 लोग अन्य में दर्ज हैं।

नाम हटाने की प्रक्रिया एन्युमरेशन फॉर्म से शुरू नहीं हुई थी। वोटर अधिकार मंच समेत सिविल सोसाइटी समूहों का दावा है कि एसआईआर से पहले ही लाखों नाम हट गए थे। दिल्ली के सीईओ का कहना है कि एसआईआर से पहले की मैपिंग में 2025 की वोटर लिस्ट का 2002 की लिस्ट से मिलान किया गया था। साथ ही, जो वोटर अपने रजिस्टर्ड पते से कहीं और चले गए थे, उन्हें स्पीड पोस्ट से नोटिस भेजे गए और सुनवाई के लिए समय भी दिया गया।

लेकिन ज़मीनी हकीकत कुछ और ही है। महरौली विधानसभा स्थित रजोकरी पहाड़ी इलाके के सतपाल का नाम प्री-एसआईआर मैपिंग में कट गया, जबकि वह 1965 से इसी इलाके में हैं और अपने निजी आवास पर 15 साल से रह रहे हैं। बताते हैं कि 'वह घर पर ही रहते हैं, बीएलओ से भी मिले थे। परिवार के सभी सदस्यों का नाम ड्राफ्ट लिस्ट में शामिल है, लेकिन उनका नाम मई में ही कट गया।' उनके पास 'न कोई नोटिस आया, न फोन और न ही कोई स्पीड पोस्ट।' उत्तर पश्चिम दिल्ली के मुबारकपुर डबास में रहने वाली धरेलू सहायिका पूजा ने 2020 और 2024 दोनों चुनावों में वोट दिया, लेकिन उनके परिवार को तो एन्युमरेशन फॉर्म मिले, उन्हें नहीं। बीएलओ ने कहा: "आपका नाम लिस्ट में नहीं है। फॉर्म-6 भरिए।"

'द वायर' के मुताबिक 'वोटर अधिकार मंच और साबर इंस्टीट्यूट ने आयोग के डाटा के आधार पर अपने अध्ययन में पाया कि प्री-एसआईआर मैपिंग के दौरान दिल्ली में मतदाताओं की संख्या 31 जनवरी 2026 से 30 जून 2026 के बीच 1.56 करोड़ से घटकर 1.45 करोड़ हो गई। वहीं 70 में से 68 विधानसभाओं में डिलीशन का आंकड़ा

2025 विधानसभा चुनाव के मार्जिन (जीत-हार का अंतर) से ज्यादा है।'

चौंकाने वाली बात यह है कि आयोग ने उन मतदाताओं के आंकड़े नहीं दिए जिनकी मैपिंग नहीं हुई थी जिन्हें नोटिस मिलने थे। सामाजिक कार्यकर्ता अंजलि भारद्वाज ने दिल्ली के सीईओ से पूछा कि 'मॉडिया रिपोर्ट्स के अनुसार 33 लाख लोगों को नोटिस आएगा। इनमें 19.3 लाख विसंगितों वाले वोटर हैं और 13.7 लाख अनमैप्ड बताए गए हैं। सवाल है कि जिन मतदाताओं को नोटिस जारी किया जाना है, उनके नाम सीईओ की वेबसाइट पर क्यों नहीं दिख रहे हैं।' ओखला में कांग्रेस के बीएलए-1 सैयद फ़ौजुल अजीम कहते हैं कि 'चुनाव आयोग और बीएलओ ही जानते हैं कि कौन अनमैप्ड है और किसको नोटिस मिलना है। बीएलओ सीधे नोटिस दे रहा है, बीएलए को अनमैप्ड लोगों की कोई लिस्ट नहीं मिली है।' हालांकि उत्तर प्रदेश में आयोग ने अनमैप्ड लोगों की जिलावार सूची जारी की थी, और ड्राफ्ट लिस्ट प्रकाशित होने के बाद यूपी में 1.04 करोड़ लोग अनमैप्ड पाए गए थे। उत्तराखंड में भी अनमैप्ड की संख्या 5.2 लाख है, लेकिन दिल्ली में आधिकारिक तौर पर यह आंकड़ा क्यों नहीं जारी हुआ, इसका जवाब कहीं से नहीं मिला।

दिल्ली में ड्राफ्ट लिस्ट से बाहर हुए 47.5 लाख लोगों को अब फिर से फॉर्म-6 भरना होगा। मतदाता सूची में शामिल होने के लिए उनके पास यही एकमात्र रास्ता है। दिल्ली सीईओ की ओर से जारी बयान में कहा गया है कि जिन लोगों का नाम ड्राफ्ट लिस्ट में शामिल नहीं है, वह दावे और आपत्तियों (31 अगस्त से 30 सितंबर 2026 तक) के दौरान फॉर्म-6 भरकर संबंधित दस्तावेजों के साथ अपना नाम दोबारा मतदाता सूची में शामिल करवा सकते हैं। सवाल है कि 47.5 लाख लोगों के फॉर्म-6 भरवाने और जांचने के लिए बीएलओ के पास पर्याप्त टाइम है? अगर इन्हें मतदाता सूची में जोड़ना ही था तो आयोग ने जल्दबाजी में इन्हें हटया ही क्यों? जिन लोगों ने पहले एसआईआर फॉर्म भरा, वो अब फॉर्म-6 क्यों भरे? चुनाव आयोग मैपिंग में चूक पर जवाबदेही से कब तक भागता रहेगा? ■

इस तरह क्यों गूंज रहीं पुणे की बातें

राजेंद्र चन्द्रकान्त राय

अब तक की राजनीति देश के प्रौढ़ों से मुखातिब रही है। पर जंतर-मंतर वाली युवा पीढ़ी के दुस्साहसी और सफल आंदोलन के बाद अब वह युवाओं और किशोरों से मुखातिब होने के लिए मुड़ आई है। राहुल गांधी 'छात्रों की गूंज' नामक गैर-राजनीतिक कार्यक्रम की श्रृंखला के जरिये इसे धार दे रहे हैं। इसी कड़ी में हाल में पुणे में भी आयोजन किया गया। इस बार केवल लड़कियों को आमंत्रित किया गया था, जबकि पहले के आयोजनों में छात्र-छात्राओं की सम्मिलित उपस्थिति थी। 'छात्रों की गूंज' एक तरह से छात्रों की मुनादी बन चुकी है, जो शिक्षा व्यवस्था में चल रहे कई क्रिम के घालमेलों के खिलाफ न केवल सरकार को चेताती है, बल्कि देश की सबसे नई पीढ़ी को आगे आकर ललकारने का हौसला भी प्रदान करती है।

पुणे के आयोजन से इसे एक और मोड़ मिला। वह सड़ चुकी परीक्षा व्यवस्था के जरिये छात्रों के भविष्य को चौपट कर देने की खिलाफत से एक कदम आगे बढ़कर इस बार राजनीतिक कदमों के इतिहास में भी एक कदम आगे बढ़ाता दिखा। अप्रत्यक्ष रूप से भारतीय समाज में गहरी पैठ बना चुकी आदिम पुरुषसत्ताक-प्रवृत्तियों से भी मुठभेड़ करने की ललकार उसमें प्रकट हुई। आदिम कबीला संस्कृति में पुरुषों द्वारा भूमि, पशुओं और स्त्री पर आधिपत्य जमा लेने को ही विजय और वीरता मानने की परंपरा बनी। समाज सभ्यता की सीढ़ियां चढ़ता रहा, पर बहुत सी आदिम प्रवृत्तियां उसके अवचेतन में शेष बनी रह गई हैं। ऐसी ही एक स्मृति है, स्त्रियों को अबला, बुद्धिहीन और पुरुषों की तुलना में दोयम

दर्जे वाला प्राणी मानना। सभी गालियों में स्त्री को ही बेधने के पीछे भी इसी आदिम प्रवृत्ति की रेख को देखा जा सकता है। भारतीय स्त्रियों ने अपने कौशल, चातुर्य और मेधा से बार-बार साबित किया है कि वे पुरुषों की तुलना में कमजोर नहीं हैं। प्रकृति ने उन्हें पुरुषों की तुलना में ज्यादा कोमल, ज्यादा संवेदनाशील और ज्यादा भावुक बनाया है, तो इसका तात्पर्य उसका दोयम दर्जे का हो जाना नहीं है। प्रतियोगी परीक्षाओं में पेपर लीक होने से लड़कों का जो और जितना नुकसान होता है, लड़कियों का उससे कई गुना ज्यादा नुकसान होता है। उनकी पढ़ाई रोक दी जाती है। माता-पिता की ओर से विवाह करवा देने की जिद और कठोर हो जाती है। उनके सपने चूर हो जाते हैं। वे अपना निजी व्यक्तित्व गढ़ने से वंचित हो जाती हैं।

राहुल गांधी ने नई पीढ़ी के साथ जुड़कर, राजनीति की निरंतर एकल होती जा रही छवि में, समाज की अनिवार्यता को जोड़ने की शुरुआत की है। इसके पहले महात्मा गांधी ने यही काम किया था। उन्होंने महिला उत्थान के लिए पर्दा प्रथा, बाल विवाह, दहेज प्रथा का विरोध, महिलाओं की शिक्षा और समाज में बराबरी की पैरवी करने वाले कलापों को जोड़ा था। उन्होंने ग्राम स्वराज और स्वदेशी विचारों से गांवों और कुटीर उद्योगों को बढ़ावा देकर ग्रामीण भारत को आर्थिक रूप से मजबूत बनाने के कार्यक्रम किए थे। उन्होंने नई तालीम के जरिये बुनियादी शिक्षा की नींव रखी थी। वे सांप्रदायिक सद्भाव और शांति के पक्ष में लगातार जुटे रहे और इसी की खातिर उन्होंने अपने प्राण भी दे दिए।

पुणे में मंच के स्क्रीन पर मनुस्मृति के एक श्लोक का अंग्रेजी अनुवाद दर्शाया गया था।



पुरुष सत्तात्मक प्रवृत्तियों से मुठभेड़ करती राहुल गांधी की ललकार की धमक दूर तक सुनी जा रही

मनुस्मृति में दो ऐसे श्लोक मिलते हैं, जिनका लगभग समान अर्थ ही है।

बाल्ये पितृव्षे तिष्ठेत् पाणिग्राहस्य यौवने। पुत्राणां भर्तारं प्रेते न भजेत्स्त्री स्वतंत्रताम्।।
(मनुस्मृति, अध्याय 5, श्लोक 148)
और
पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने। रक्षन्ति स्थविर पुत्रा न स्त्री स्वातंत्र्यमर्हति।।
(मनुस्मृति, अध्याय 9, श्लोक 3)

इनका अर्थ है: स्त्री को बचपन में अपने पिता की, युवावस्था में पति की और पति की मृत्यु हो जाने पर पुत्रों की रक्षा में रहना चाहिए। उसे कभी भी स्वतंत्र नहीं रहना चाहिए।

इस श्लोक का उपयोग राहुल गांधी ने प्रतीक के तौर पर किया। उनका प्रयास उस भाव और विचार को प्रकट करना था, जो हजारों सालों बाद भी हमारे अचेतन में दबा हुआ है। मनुस्मृति ग्रंथ

भाजपा और संघ के अंदर ख्रिसियाहट पैदा होने की वजह यह है कि वे स्त्रियों के मतों को बिकाऊ मान कर चलते हैं

जिस काल में रचा गया था, उसमें तत्कालीन समाज और उसके सामाजिक मूल्यों का वर्णन मिलता है। समय के साथ समाज और समाज के मूल्य बदलते रहते हैं। भारतीय समाज भी बहुत से परिवर्तनों को आत्मसात करता हुआ आज की स्थिति में पहुंचा है। परिवर्तनों के बावजूद कुछ रूढ़ियां फिर भी बची रह जाती हैं और वे संस्कार का हिस्सा हो जाती हैं। ऐसी ही रूढ़ि है स्त्रियों के प्रति समाज का यह नज़रिया कि उन्हें अपनी अलग-अलग अवस्था में किसी न किसी पुरुष के संरक्षण में रहना चाहिए। वे स्वाधीन रहने के योग्य नहीं हैं।

पुणे के आयोजन में कई हजार युवा और किशोर लड़कियों ने भागीदारी की थी और उनमें से बहुतों ने मंच से अपने साथ होने वाले व्यवहार को अपनी भाषा, भंगिमा और व्यंजना से सार्वजनिक किया था। जो बोल रही थीं, वे करुणा, दुख और आक्रोश से भरी हुई थीं। जो सुन रही थीं, वे स्त्री-आवाज को मंच पर स्थान मिलने के आह्लाद से सराबोर थीं। उनके जीवन का सत्य उजागर हो रहा था। वह मन की बात सुनाने का नहीं, मन की बात सुनने का मंच था। मीडिया उसे दूर-दूर तक पहुंचा रहा था।

भारतीय राजनीति के लिए वह बिल्कुल नया अनुभव था। जो स्त्री-पुरुष समानता के पक्षधर हैं, वे उत्लसित हो रहे थे, जबकि स्त्री को हीन और उपेक्षित बनाए रखने की मानसिकता से ग्रस्त समूहों ने इसे अपने ऊपर किए जाने वाले प्रहार की तरह लिया। परोक्ष रूप से पुनरुत्थानवादी मानसिकता पर विश्वास करने वाली भाजपा और संघ के अंदर ख्रिसियाहट पैदा हो गई है। भाजपा सरकार की दिखावटी नारी शक्ति वंदना के बरकस यह वास्तविक

नारी शक्ति वंदना साबित हुई है। वे स्त्रियों के मतों को बिकाऊ मान कर चलते हैं और यह भी सोचते हैं कि उन्हें बेवकूफ बनाया जा सकता है। जो नारी शक्ति वंदन अधिनियम (महिला आरक्षण बिल) सितंबर 2023 में भारतीय संसद के विशेष सत्र के दौरान दोनों सदनों से पारित हो चुका है, वे उसे लागू करने की बजाय अब तक उठे बस्ते में डाले हुए हैं। संपूर्ण विपक्ष के समर्थन से पास हुए बिल को लागू करने की मांग प्रतिपक्ष बार-बार दोहरा रहा है। पर भाजपा देश को बता रही है कि वह अभी पारित होना है। वह परिसीमन बिल को अपनी स्वाधुर्पूर्ति के लिए नारी शक्ति वंदन अधिनियम के खेल में डाल कर चुपके से पारित कराने की जुगत में लगी है, जो मुर्माकिन नहीं हो पा रही है।

एक धर्माचार्य ने राहुल गांधी के पुणे-कार्यक्रम को मनुस्मृति के जरिये सनातन पर हमला माना है। उन पर हंसने के सिवाय और कुछ नहीं किया जा सकता। उनके लिए कबीरादास की ये पंक्तियां ही पर्याप्त हैं:

अंबर बरसे, धरती भीजै, यह जानै सब कोई। धरती बरसे, अंबर भीजै, चूड़ी बिरला कोई।। आसमान से पानी का बरसना सब जानते हैं, पर धरती के बरसने से ही बादलों का निर्माण होता है, इसे जानने में श्रम, बुद्धि और वक्त लगता है। कबीर की इस उलटबांसी की तरह इन दिनों भारतीय राजनीति में भी उलटबांसीयों का दौर चल रहा है। अपने को समझदार समझने का दीर्घ पालने वाले उसे समझ पाने में असमर्थ हो रहे हैं और नासमझ सब समझ रहे हैं। ■

राजेंद्र चन्द्रकान्त राय जाने-अनजाने कथाकार और शिक्षा क्षेत्र के एक्टिविस्ट हैं

क्या कॉरपोरेट के लिए रास्ते खुलेंगे?

केन्द्र सरकार ने खनिजों पर लगने वाले टैक्स पर नियंत्रण

कर राज्यों के अधिकारों को कमजोर किया है

रश्मि सहगल

क्या 'माइन्स एंड मिनरल्स (डेवलपमेंट एंड रेगुलेशन) अमेंडमेंट एक्ट 2026' (एमएमडीटीआर) चंद चुनिंदा कॉरपोरेट घरानों के फ़ायदे के लिए संसद में आनन-फ़ानन पास कराया गया? इस क़ानून के आगे बढ़ने की रफ़्तार अद्भुत है: 10 अगस्त को लोकसभा में पेश, 13 अगस्त को दोनों सदनों से पारित और 17 अगस्त को गजट अधिसूचना जारी। खनन के लिए समान कर व्यवस्था के नाम पर लाए गए इस क़ानून का मक़सद असल में बड़े औद्योगिक घरानों पर झारखंड, ओडिशा, कर्नाटक और केरला सरीखे खनिज समृद्ध राज्यों का जो लाखों रुपये का बकाया है, उसे माफ़ करना है।

इन देनदारियों का दायरा ‘मिनरल एरिया डेवलपमेंट अथॉरिटी बनाम स्टील अथॉरिटी ऑफ़ इंडिया’ मामले की सुनवाई के दौरान सामने आया, जिसकी सुनवाई सुप्रीम कोर्ट के तत्कालीन मुख्य न्यायाधीश डी.वाई. चंद्रचूड़ की अध्यक्षता वाली नौ जजों की बेंच ने की थी। फेडरेशन ऑफ़ इंडियन मिनरल इंडस्ट्रीज ने कोर्ट को बताया कि कर बकाये से खनन उद्योग को 1.5 से 2 लाख करोड़ रुपये का नुक़सान हो सकता है। हालाँकि स्वतंत्र जानकारों की नज़र में यह आंकड़ा ख़रबों में है।

अकेले झारखंड का दावा है कि ईस्टर्न कोलफील्ड्स लिमिटेड जैसे केन्द्रीय सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रम (पीएसयू) और निजी खनन कंपनियों पर राज्य का लगभग 1.36 लाख करोड़ रुपये उधार है, जिसमें माइनिंग से जुड़ा बकाया, ज़मीन का मुआवज़ा और बकाया टैक्स शामिल है।

2024 के अहम फैसले में सुप्रीम कोर्ट ने खनिज-समृद्ध राज्यों का वह अधिकार बहाल रखा था, जिसके तहत वे 1 अप्रैल 2005 से खनिज युक्त ज़मीन पर कर और सेस (उपकर) लगा सकते हैं। बकाया राशि किश्तों में चुकाई जा सकती है। फैसले ने 35 साल पुराने विवाद का भी पक्षेप कर दिया, जिसके अनुसार खनन पट्टेदार द्वारा दी जाने वाली रॉयल्टी कोई टैक्स नहीं, बल्कि खनिज अधिकारों के इस्तेमाल के बदले कॉन्ट्रैक्ट के तहत दिया जाने वाला भुगतान है।

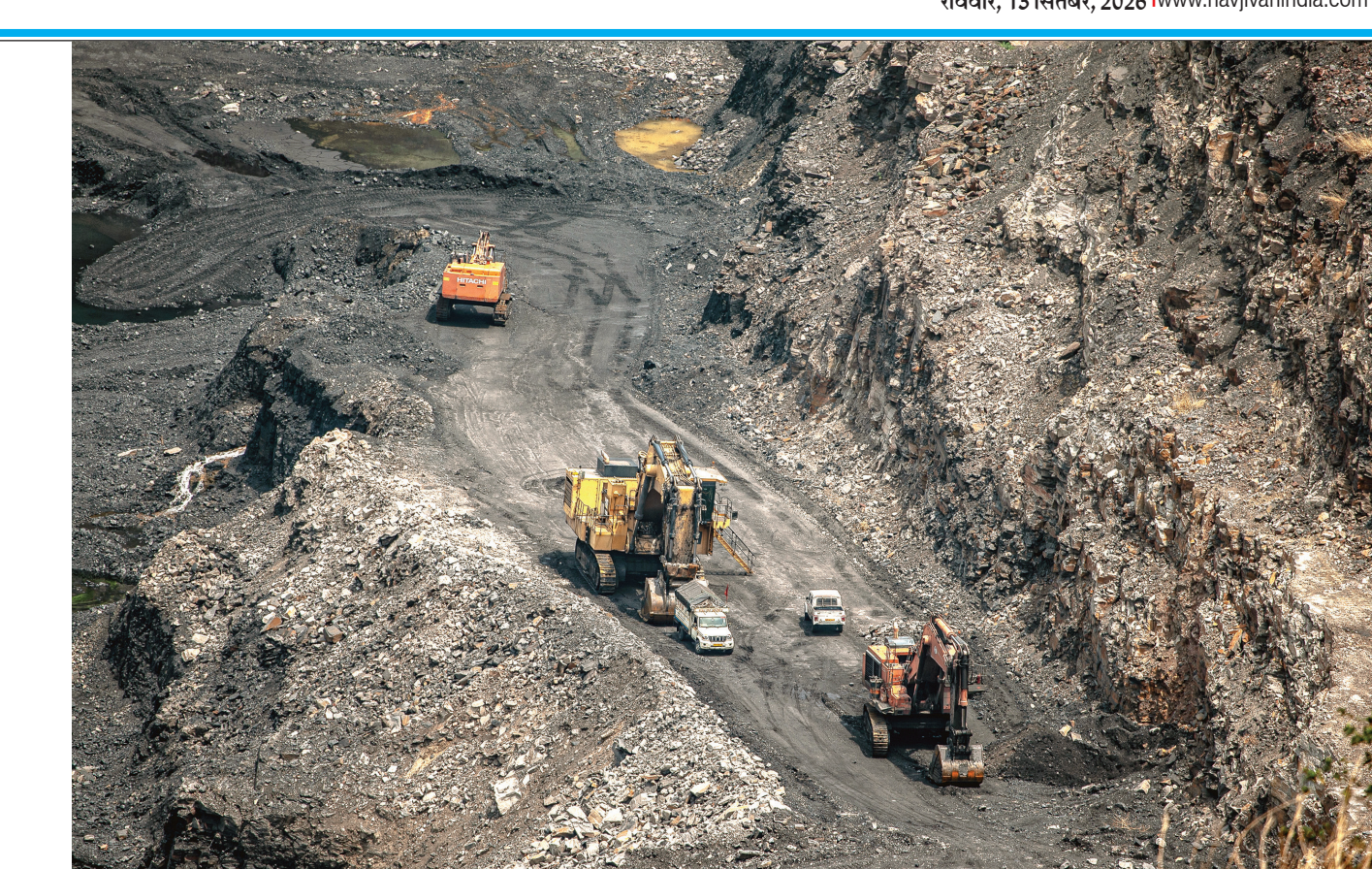
झारखंड कड़े कदम उठाकर इस साल की शुरुआत में भारत कोकिंग कोल लिमिटेड से 200 करोड़ रुपये की वसूली करने में सफल रहा, वहीं टाटा स्टील के वित्तीय ब्योरे में 17,347 करोड़ रुपये की संभावित देनदारी का खुलासा हुआ। इसका असर अन्य खनन कंपनियों और सरकारी उपक्रमों पर भी पड़ा। हालाँकि राज्य के विभागों ने अड़ानी, आदित्य बिड़ला और वेदांता जैसे समूहों के लिए कंपनी-

वार देनदारियां समान रूप से प्रकाशित नहीं कीं, लेकिन इस संशोधन के उद्योग पर व्यापक असर से कोई इनकार नहीं कर सकता। उदाहरण के लिए, मूडीज जैसी क्रेडिट-रेंटिंग एजेंसियों ने वेदांता रिसोर्सेज की पहचान इस फैसले से सबसे ज़्यादा प्रभावित कंपनियों में से एक के तौर पर की थी। वेदांता ने 2023-24 के दौरान रॉयल्टी के तौर पर 6,249 करोड़ रुपये का भुगतान किया, जो इसके माइनिंग ऑपरेशन्स का दायरा समझने को पर्याप्त है।

2026 का संशोधन स्थिति को पूरी तरह बदल देता है। यह राज्य सरकारों को खनिज अधिकारों और खनिजयुक्त ज़मीनों पर स्वतंत्र रूप से नए टैक्स, सेस या लोकल इयूटी लगाने से रोकता है और ऐसी ज़मीनों को केन्द्र के सीधे नियामक दायरे में लाता है। ‘सेक्शन डी’ जैसा प्रावधान राज्यों को केन्द्र की मंजूरी बिना अलग से स्थानीय कर या अतिरिक्त लेवी लगाने से रोकता है, और संशोधन से पहले की ऐसी कर माँगें अमान्य कर देता है, जिनका भुगतान नहीं हुआ या जिनकी वसूली नहीं हुई है। यह केन्द्र-राज्य वित्तीय संबंधों का संतुलन बदल देता है और संविधान में परिकल्पित संघीय ढांचे के अनुकूल नहीं है।

ज़मीन से जुड़े कई मामलों में झारखंड का प्रतिनिधित्व कर चुकी राजस्व कानून विशेषज्ञ, रांची की वकील रश्मि

“व्यापार समानीकरण नीति अपनाने का मतलब है कि झारखंड में निकाले गए कोयले की कीमत केरला में बेचने पर भी वही होगी। जाहिर है, जिस राज्य से खनिज निकाले जाते हैं, सबसे ज्यादा फायदा उसे ही मिलना चाहिए।”



काल्यायन केन्द्र के इस नज़रिये को “नव-औपनिवेशिक” बताती हैं। पृछती हैं; “वे व्यापार समानीकरण नीति अपनाने की बात करते हैं, जिसका मतलब है कि झारखंड में निकाले गए कोयले की कीमत केरला में बेचने पर भी वही होगी। जाहिर है, जिस राज्य से खनिज निकाले जाते हैं, सबसे ज़्यादा फ़ायदा उसे ही मिलना चाहिए।”

जहां मूल एमएमडीटीआर एक्ट ने केन्द्र को खदानों और खनिज विकास नियंत्रित करने का अधिकार दिया था, संशोधन यह अधिकार खनिज-युक्त ज़मीनों तक भी बढ़ाता है। राज्यों से टैक्स लगाने का अधिकार छिनने से न सिर्फ़ उनकी कमाई का अहम ज़रिया ख़त्म हो जाता है, बल्कि खनन से होने वाली कमाई को सामाजिक कल्याण में लगाने की उनकी आज़ादी भी कम हो जाती है।

यहां खासा बड़ा वित्तीय दांव लगा है। झारखंड खनिज-युक्त भूमि उपकर अधिनियम से 2025-26 में 13,442 करोड़ रुपये की कमाई हुई (जो राज्य के गैर-कर राजस्व का 68 प्रतिशत और कुल कमाई का 11 प्रतिशत है)। अनुमान है कि 2026-27 में ओडिशा की माइनिंग टैक्स से होने वाली कमाई 53,000 करोड़ रुपये तक पहुंच जाएगी, जो उसके गैर-कर राजस्व का 75 प्रतिशत होगी। पिछले पांच सालों में, ओडिशा ने 79 खनिज ब्लॉक की नीलामी की है, जिससे उसे लगभग 87,000 करोड़ रुपये की कमाई हुई है।

इस राजस्व का इस्तेमाल स्वास्थ्य देखभाल, शिक्षा, सामाजिक सुरक्षा, खेती, साफ-सफाई और पेयजल के लिए होना था। इसी तरह, ओडिशा ग्रामीण बुनियादी ढांचा और सामाजिक-आर्थिक विकास अधिनियम, 2004’ के तहत ग्रामीण कल्याण कार्यक्रमों के लिए फंड जुटाने के मक़सद से खनिज युक्त ज़मीनों के सलाना मूल्य पर 20 प्रतिशत तक

राज्य 360°



मध्य प्रदेश

लाइली बहना के भाइयों से ही वसूली कर रही सरकार

राजेंद्र चन्द्रकान्त राय

मुख्यमंत्री डॉ. मोहन यादव के नेतृत्व वाली मध्यप्रदेश सरकार अपने गठन के साल 2023 से ही बाजार से अधाधुंध कर्ज उठा रही है। ऐसा प्रतीत होता है कि चार्वाक दर्शन पर उसकी अटूट आस्था है, जिसमें कहा गया है कि ‘यावज्जीवेत् सुखं जीवेत, ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्....।' मतलब, घी पीने के लिए कर्ज भी लेना पड़े तो जरूर लो, क्योंकि देह को एक दिन जलकर राख हो जाना है और उसका पुनरगमन नहीं होता।

भाजपा सरकार को भी यही लगता है कि उसकी वापसी तो होनी नहीं है, इसलिए जितना कर्ज लिया जा सकता है, ले लिया जाए। बस, अपने सुखों और वैभव में कोई कमी नहीं आनी चाहिए। इसी राह पर चलते हुए उसने अपनी प्रतिभूतियों का विक्रय कर 1 सितंबर, 2026 को 3,600 करोड़ रुपये का एक और नया कर्ज ले लिया है। सरकारी प्रतिभूति (गवर्नमेंट सेक्योरिटी) केन्द्र या राज्य सरकार द्वारा जारी किया गया एक ऋण साधन (डेट इन्स्ट्रूमेंट) है, जिसके जरिये सरकार जनता या निवेशकों से अपने खर्चों और राजकोषीय घाटे को पूरा करने के लिए पैसे उधार लेती है। इसे दो भागों में लिए जाने की योजना है। पहला हिस्सा 1,600 करोड़ रुपये का होगा और उसे 18 साल की लंबी अवधि के बाद चुकाया जाएगा। इस पर ब्याज की कूपन दर 7.61 फ़ीसदी होगी और वह साल में दो बार चुकाई जाएगी। कर्ज का दूसरा हिस्सा 2,000 करोड़ रुपये का होगा और उसे 30 साल बाद चुकाया जाएगा। इस पर भी साल में दो बार ब्याज जाएगा।

कूपन दर का मतलब है कि सरकार निवेशकों को एक निश्चित सालाना ब्याज देगी। यह ब्याज दर कर्ज की पूरी अवधि के दौरान स्थिर रहेगी। इस तरह सरकार को आने वाले तीस सालों तक हर साल ब्याज के तौर पर ही कूपन दर से 273.96 करोड़ रुपये चुकाने होंगे। सरकार ने चालू साल में अप्रैल में ही कर्ज लेने की शुरुआत कर दी थी। इस हड़बड़ी का कारण भारतीय रिजर्व बैंक की वह नई नीति है,



जिसके अनुसार अब राज्यों की अनयूटिलाइज्ड लोन लिमिट (उपयोग न किए जाने वाले ऋण की सीमा) अगले साल के लिए फॉरवर्ड नहीं की जा सकेगी। यदि सरकार इस साल की 85,000 करोड़ की सीमा का उपयोग नहीं करती, तो वह पैसा लैप्स हो जाता। इसलिए, सरकार ने योजनाओं को जारी रखने के वित्त वर्ष के आरंभ में ही कर्ज उठा लिया था।

कर्ज पर सवाल उठाए जाने पर सरकार का अक्सर यही जवाब होता है कि वह विकास कार्यों के लिए ऋण ले रही है। पर उसका ज्यादातर भाग उन मदों में खर्च होता है, जो अनुत्पादक होते हैं या चुनाव जीतने की खातिर लोगों को नकद लाभ देने के वादों को पूरा करने में खर्च किए जाते हैं। मध्यप्रदेश की मौजूदा सरकार ने 2023 में सत्तासीन होते ही कर्ज लेना आरंभ कर दिया था। उसे ऐसा इसलिए करना पड़ा था क्योंकि पूर्ववर्ती शिवराज सिंह चौहान की सरकार पहले ही प्रदेश को भारी कर्ज में डुबा चुकी थी।

झांसे में रखकर लाइली बहनों के वोट लिए जा रहे, जबकि इन्हें मिलने वाली राशि का भुगतान उन्हीं के परिजन डीजल, पेट्रोल, खाद्य सामग्री और तेल, बैंकों में लगाने वाले विभिन्न फिस्म के प्रमारों और टैक्स के रूप में कर रहे हैं

राजेंद्र चन्द्रकान्त राय

राजेंद्र चन्द्रकान्त राय

राजेंद्र चन्द्रकान्त राय

राजेंद्र चन्द्रकान्त राय

राजेंद्र चन्द्रकान्त राय

राजेंद्र चन्द्रकान्त राय

राजेंद्र चन्द्रकान्त राय

राजेंद्र चन्द्रकान्त राय

राजेंद्र चन्द्रकान्त राय

राजेंद्र चन्द्रकान्त राय

राजेंद्र चन्द्रकान्त राय

राजेंद्र चन्द्रकान्त राय

राजेंद्र चन्द्रकान्त राय

राजेंद्र चन्द्रकान्त राय

राजेंद्र चन्द्रकान्त राय

राजेंद्र चन्द्रकान्त राय

राजेंद्र चन्द्रकान्त राय

राजेंद्र चन्द्रकान्त राय

का टैक्स लगाया गया था। एक मजबूत निगरानी ढांचे की मदद से छत्तीसगढ़ बीते पांच वित्तीय वर्ष में खनिजों से 70,000 करोड़ रुपये से ज़्यादा की कमाई कर सका। इसी दौरान, कर्नाटक ने खनिजों की रॉयल्टी से लगभग 36,120 करोड़ रुपये, केरला ने 550 करोड़ रुपये और उत्तराखंड ने 4,600 करोड़ रुपये कमाए। इन आंकड़ों में राज्य नियंत्रित रेत और बड़े पत्थर जैसे छोटे खनिज शामिल नहीं हैं।

कई किसान संगठनों के समूह, संयुक्त किसान मोर्चा (एसकेएम) ने संशोधन रद्द करने की मांग की है और राज्य सरकारों से अपने संघीय अधिकारों की रक्षा करने और खनन से होने वाली कमाई का इस्तेमाल कृषि विकास, आदिवासी कल्याण और उत्पादक रोजगार के लिए करने का आग्रह किया है। एसकेएम की नज़र में यह कानून माइनिंग सेक्टर में विदेशी निवेश (जिसमें रेयर-अर्थ निकालना भी शामिल है) आकर्षित करने और घरेलू खनिज संसाधनों का बड़े पैमाने पर दोहन आसान करने के लिए बनाया गया है।

काल्यायन बताती हैं कि झारखंड में कोयला, लौह अयस्क, यूरेनियम, बॉक्साइट, अभ्रक और रेयर अर्थ जैसे खनिजों का भारी भंडार है। ये भंडार भारत की सबसे पुरानी भू-वैज्ञानिक संरचनाओं, जिनमें गोंडवाना चट्टानें भी शामिल हैं, में फैले हुए हैं। उन्होंने कहा, “हम सबसे ज़्यादा जीएसटी देते हैं, लेकिन इन खनिजों को प्रोसेसिंग के लिए दूसरे राज्यों में भेजा जाता है। स्थानीय लोग इसका लाभ नहीं ले पाते हैं।”

संशोधन में खनन कंपनियों की दलीलों की प्रतिध्वनि भी है, कि खनिज युक्त ज़मीनें तेज़ी से हासिल की जाएं, ज़्यादा खनन ब्लॉक की नीलामी हो और सफल बोली लगाने वालों को पर्यावरण, वन और वन्यजीव से जुड़ी मंजूरी जल्दी मिल

राजेंद्र चन्द्रकान्त राय

राजेंद्र चन्द्रकान्त राय

राजेंद्र चन्द्रकान्त राय

राजेंद्र चन्द्रकान्त राय

राजेंद्र चन्द्रकान्त राय

राजेंद्र चन्द्रकान्त राय

राजेंद्र चन्द्रकान्त राय

राजेंद्र चन्द्रकान्त राय

राजेंद्र चन्द्रकान्त राय

राजेंद्र चन्द्रकान्त राय

राजेंद्र चन्द्रकान्त राय

राजेंद्र चन्द्रकान्त राय

राजेंद्र चन्द्रकान्त राय

राजेंद्र चन्द्रकान्त राय

राजेंद्र चन्द्रकान्त राय

राजेंद्र चन्द्रकान्त राय

राजेंद्र चन्द्रकान्त राय

राजेंद्र चन्द्रकान्त राय

राजेंद्र चन्द्रकान्त राय

राजेंद्र चन्द्रकान्त राय

जाए, तो राजस्व बढ़ेगा। लेकिन पर्यावरणविदों की नज़र में इससे सुरक्षा उपाय लगातार कमजोर हो रहे हैं। वन अधिकार अधिनियम, 2006, पंचायत (अनुसूचित क्षेत्रों तक विस्तार) अधिनियम और पर्यावरण-प्रभाव आकलन (ईआईए) की अक्सर अनदेखी होती है; ग्राम सभा की ज़रूरी मंजूरी ज़बरदस्ती ली जाती है या महज काग़ज़ों पर फ़र्ज़ी मंजूरी दिखा दी जाती है। नियमों की यही अनदेखी लाखों आदिवासियों के अपनी ज़मीन से बेदखली का कारण है, खासकर ओडिशा, झारखंड और छत्तीसगढ़ में, जहां भारत की 70 प्रतिशत खदानें मौजूद हैं।

पर्यावरणविद चेतावनी दे रहे हैं कि 'कर शक्तियां' न होने पर, खनिज-समृद्ध राज्य अल्पावधि आर्थिक लाभ के लिए खनिजों का उत्पादन ज़्यादा से ज़्यादा करने की कोशिश कर सकते हैं, जो जंगलों, कृषि भूमि, जल-स्रोतों और वन्यजीव आवास के तेज़ी से विनाश का कारण बन सकता है।

खदानों-जंगलों पर स्वतंत्र शोध करने वाले ओडिशा के संदीप पटनायक इसके लिए केन्द्र और राज्य, दोनों को समान रूप से जिम्मेदार मानते हैं: विरोध के स्वर बढ़ रहे हैं। बीजू जनता दल (बीजेडी) और इंडिया ब्लॉक के दलों ने ओडिशा में बड़े पैमाने पर धरने आयोजित किए, जबकि स्थानीय समूहों ने आर्थिक नाकेबंदी की धमकी दे रखी है। झारखंड के मुख्यमंत्री हेमंत सोरेन ने कांग्रेस और वामपंथी दलों के साथ मिलकर धनबाद और रामगढ़ में प्रदर्शन शुरू किए हैं। कर्नाटक, केरला और तमिलनाडु के नेताओं ने भी आपत्ति जताते हुए चेतावनी दी है कि यह संशोधन न सिर्फ़ खतरनाक मिसाल कायम करता है, जो भारत के संघीय ढांचे का उल्लंघन है, बल्कि भारत की कीमती खनिज संपदा को निजी एकाधिकार के लिए खोल देता है। ■

इस समाचारपत्र का प्रकाशन **पवन कुमार बंसल** द्वारा हेराल्ड हाउस, 5-ए, बहादुर शाह जफर मार्ग, नई दिल्ली-110002 से **दि एसोसिएटेड जर्नल्स लिमिटेड**, हेराल्ड हाउस, 5-ए, बहादुर शाह जफर मार्ग, नई दिल्ली-110002 की ओर से संपादन **राजेश झा** द्वारा और मुद्रण आर. सी. मल्होत्रा द्वारा दि इंडियन एक्सप्रेस (प्रा.) लिमिटेड प्रेस, ए-8, सेक्टर-7, नोएडा- 201301, उत्तर प्रदेश से किया जा रहा है।



कौन तय करेगा, बंगाल में कैसे हो दुर्गा पूजा?

खान-पान, कलात्मक स्वायत्तता और बंगाली शाक्त परंपराओं पर संघ परिवार के उत्तर भारतीय मॉडल थोपने की पड़ताल

ट्रेपायन बनर्जी

सितंबर के शुरू में मध्य प्रदेश के छतरपुर स्थित बागेश्वर धाम के 30 वर्षीय पीठाधीश्वर और भाजपा से करीबी ताल्लुक रखने वाले धीरेंद्र कृष्ण शास्त्री उर्फ बागेश्वर बाबा ने पश्चिम बंगाल का दौरा किया। मीडिया में यह खूब प्रचारित रहा। मुख्यमंत्री और मुख्य सचिव उनसे मिलने पहुंचे, शीश नवाया, साथ भोजन किया और राज्य में एक मंदिर स्थापित करने का न्योता तक दे डाला। हावड़ा में आयोजित ‘हनुमंत कथा’ के दौरान शास्त्री ने यह कहकर विवाद खड़ा कर दिया कि दुर्गा पूजा के दौरान मछली-मांस खाने वाले हिन्दू ‘पाखंडी’ हैं। उन्होंने कहा, ‘मुझे इससे ठेस पहुंचती है कि नवरात्रि और दुर्गा पूजा के दौरान पंडालों के पीछे ‘गंदा खाना’ पकाया जाता है।’

इस टिप्पणी पर स्वाभाविक ही बड़ा सियासी तूफान खड़ा हो गया। सोशल मीडिया मीम्स और व्यंग्य से भर गया और विपक्षी दलों ने इसकी तीखी निंदा की। बंगाल में पूजा के दौरान मांस-मछली का सेवन सदियों पुरानी परंपरा है। कई कुलीन घरों, प्राचीन मंदिरों और स्थानीय सामुदायिक पूजा आयोजनों में शाक्त विधान के तहत देवी को ‘प्रसाद’ के रूप में बकरे का मांस और मछली का भोग लगता है।

पड़ोसी राज्य बिहार के मैथिल ब्राह्मणों की तरह ही ‘स्मार्त’ (स्मृति के विधि-विधानों का पालन करने वाले गृहस्थ) बंगाली ब्राह्मण परिवारों के अधिकतर लोग मांसाहारी रहे हैं। (उत्तर भारत में तो अमूमन स्मार्त परिवार भी मुख्यतः शाकाहारी होते हैं।) चैतन्य महाप्रभु के 16वीं सदी के समकालीन रघुनंदन द्वारा रचित ‘अष्टाविंशतित्व’ (28 कर्मकांडीय संकलन) स्मृति-शास्त्रों की एक विशुद्ध बंगाली व्याख्या है, जिसके विधानों का आज भी पारंपरिक परिवारों में पालन किया जाता है। रघुनंदन का यह कालजयी ग्रंथ ‘देशाचार’ (क्षेत्रीय रीति-रिवाज/स्थानीय परंपरा) को पूरी मान्यता देता है, जो दुर्गोत्सव सहित अन्य धार्मिक उत्सवों में मांस-मछली के सेवन तथा उन्हें भोग लगाने की अनुमति देता है। रघुनंदन ने 28 संकलनों में से एक दुर्गोत्सव को समर्पित किया है, जिसे ‘दुर्गोत्सव-तत्व’ कहा जाता है। वेशक, वैष्णव घरों में मछली का भोग न लगाने का रिवाज रहा, और कुछ वैष्णव बनिक (व्यापारी) परिवारों में दुर्गा महिषासुरमर्दिनी के रूप में नहीं, बल्कि अपने पति शिव और बच्चों के साथ घरेलू रूप में विराजती हैं। किसी ने नहीं सोचा कि उसे दूसरों के लिए अपनी रखायत बदलनी होगी; सभी बिना किसी टकराव के सह-अस्तित्व में रहे।

इस तरह के फरमान सुनाने वाले अकेले धीरेंद्र शास्त्री नहीं। कुछ दिन पहले विश्व हिन्दू परिषद (विहिप) के निर्गुणानंद ब्रह्मचारी ने भी ऐसी ही बात कही थी। उन्होंने आयोजकों से पंडाल परिसर में ऐसी चीजों पर प्रतिबंध की मांग की थी। विहिप ने पूजा कमेटियों से आधुनिक कलात्मक प्रयोगों के बजाय मूर्तियों के निर्माण में ‘शास्त्र-सम्मत’ नियमों का कड़ाई से पालन करने का आह्वान भी किया, और आगाह किया कि पंडालों को शास्त्रों का उल्लंघन करते हुए मनमाने प्रयोग नहीं करने चाहिए। उसने इसपर भी जोर दिया कि आयोजन समितियों में केवल ‘सनातनी हिन्दू’ होने चाहिए। इस तरह विहिप ने उस स्थानीय आस्था पर निशाना साधा



फोटो: जेटी इमेजेज

जो मानती है कि धर्म व्यक्तिगत विषय है जबकि त्योहार साझी विरासत।

दुर्गा पूजा बंगाली सामाजिक-सांस्कृतिक कैलेंडर का सबसे बड़ा उत्सव है। हजारों की तादाद में लोग पंडालों में उमड़ते हैं, और कलाकारों व शिल्पकारों के लिए यह ‘सर्वजनीन’ (सार्वजनिक) उत्सव प्रतिभा दिखाने का बेमिसाल मंच होता है। मूर्तियां, भव्य पंडाल, रोशनी की सजावट-सब मानो उनके लिए एक खुला कैनवास है। कलाकार और फाइन आर्ट्स के छात्र महीनों पूजा प्रोजेक्ट्स पर पसीना बहाते हैं। अक्सर उनके इन कला-रूपों में तीखे राजनीतिक संसकार झलकते हैं। उनके विषय बेहद विविध होते हैं: यह सीएए-एनआरसी विरोधी प्रदर्शन हो सकते हैं, फिलिस्तीन में नरसंहार हो सकता है, या फिर किसान आंदोलन... लेकिन लगभग हर बार, उनका राजनीतिक स्वर प्रगतिशील और लोकतांत्रिक होता है। लिहाजा, कलात्मक छूट न लेने का विहिप का यह फरमान असल में एक पूर्व-चेतावनी जैसा है ताकि सुनिश्चित किया जा सके कि ये कलाकृतियां मौजूदा हुकूमत को असहज न कर दें।

जब विरोध बढ़ा, तो विहिप अपने रुख से पीछे हट गई और सफाई दी कि वह मांसाहारी भोजन पर कोई प्रतिबंध नहीं लगा रही, बल्कि केवल यह कह रही है कि खाने के स्टॉल पंडालों के बाहर हों। वैसे भी, खाने-पीने के स्टॉल कभी पंडाल के मुख्य हिस्से के अंदर नहीं लगाए जाते। दोनों



फोटो: जेटी इमेजेज

मामलों में भाजपा ने रणनीतिक रूप से खुद को दूर दिखाने की कोशिश की, लेकिन लोग इस झंसे में आने वाले नहीं। क्या यह संघ परिवार के लिए नई जमीन पर शुरुआती असहजता भर है, या हम किसी गहरे वैचारिक बदलाव के गवाह बन रहे हैं? क्या हिन्दुत्व के भीतर उन समाजों को भी अधीन करने का माद्दा है, जिनकी आस्थाएं और रोजमर्रा की जिंदगी संघ के पारंपरिक गढ़ों से बिल्कुल जुदा हैं? कुछ साल पहले जब मैं बंगाल में संघ परिवार के प्रभाव को आकार लेते देखने और समझने की कोशिश कर रहा था, तब ये सवाल मेरे दिमाग में बार-बार कौंध रहे थे।

* कोलकाता में श्यामबाजार के पांच-मुंहा चौराहे से कुछ ही दूर स्थित विहिप का दफ्तर पुराने ढर्रे का अहसास कराता है। 2019 में जब मैं वहां पूर्वी क्षेत्र के प्रभारी सचिंद्र नाथ सिन्हा से मिलने गया, तो एक बात ने मेरा ध्यान खींचा: दीवारों पर लगी तस्वीरों में जहां राम, विवेकानंद, शंकराचार्य के साथ-साथ उनके अपने सांगठनिक नेताओं की तस्वीरें थीं,काली की एक भी तस्वीर नहीं थी। जबकि बंगाल में मां काली हर जगह रची-बसी हैं। ऐतिहासिक कालीघाट मंदिर से लेकर मोहल्लों के छोटे मंदिरों और शक्तिपीठों तक, वह हर जगह मौजूद हैं। यह देवी, जो मांस और मदिरा स्वीकार करती हैं, और जिन्हें पारंपरिक रूप से शिव की छाती पर पैर रखे, जीभ

शाक्त परंपराओं से लबरेज बंगाल पर उत्तर भारत का बनिया-वैष्णव सांचा थोपने की सधी कोशिशें गंभीर सांस्कृतिक और राजनीतिक टकराव की आहट हैं

नए रंग में पुरानी जंग

पुणे में गणेशोत्सव के नाम पर कानफोड़ डीजे संस्कृति के खिलाफ उठते तीखे सवाल

जयदीप हर्डीकर

गणेशोत्सव करीब आ चुका है। 14 सितंबर से शुरू होने वाले इस पर्व से पहले पुणे के प्रगतिशील तबकों और रूढ़िवादी ताकतों के बीच उत्सव के दौरान डीजे और कानफोड़ साउंड सिस्टम के इस्तेमाल को लेकर विवाद छिड़ गया है।

विवाद की शुरुआत 25 अगस्त को नगर निगम प्रशासन द्वारा बुलाई गई सार्वजनिक बैठक से हुई, जहां 37 वर्षीय विद्यानंद बापट को अपमानित कर निकाल बाहर किया गया था। शहर के केन्द्र में स्थित नारायण पेठ के रहने वाले बापट खुद को नास्तिक और तर्कवादी बताते हैं। उस बैठक में बापट ने गणेशोत्सव के दौरान डीजे, उच्च डेसिबल वाले साउंड सिस्टम और ढोल-ताशा के जुलूसों पर कड़ा पेंतराज जताया और सार्वजनिक स्थलों पर इक्के इस्तेमाल पर पूर्ण प्रतिबंध की मांग की। उन्होंने ध्वनि प्रदूषण और यातायात में आने वाली भारी रुकावटों का मुद् उठाया और अपने तर्क के पक्ष में ठोस आंकड़े भी दिए। गणेश मंडलों के लोगों को यह बात नागवार गुजरी और उनके समर्थक आक्रामक हो उठे। स्थिति बिगड़ने पर पुलिस को बापट को सुरक्षित बाहर निकालना पड़ा।

इस टकराव का वीडियो सोशल मीडिया पर वायरल हो गया और बापट की मुहिम रातों-रात पूरे शहर में बहस का मुद्दा बन गई। मराठी अखबारों, टीवी चैनलों, सोशल मीडिया और आम लोगों की जुबान पर यह चर्चा छा गई। शहर के जो नागरिक रातों की नींद हराम होने, सड़कें बंद होने और उत्सव के कानफोड़ शोर को लेकर लंबे समय से परेशान थे, उन्हें मानो आवाज मिल गई। एक बीपीओ में काम करने वाले और सामाजिक रूप से प्रभावशाली कोकणस्थ (चिंपापवन) ब्राह्मण समुदाय से आने वाले बापट के समर्थन में बड़ी संख्या में लोग सड़कों पर उतर आए।

30 अगस्त को ये लोग ‘गुड लक चौक’ पर जुटे। इसके बाद रविवार, 6 सितंबर को सैकड़ों लोगों ने मौन विरोध मार्च निकाला। उनका कहना था कि इन त्योहारों का अनियंत्रित शोर अब दहशत पैदा करने लगा है। उन्होंने साफ किया कि वे गणेशोत्सव के आयोजन के खिलाफ नहीं हैं, उनका विरोध कानफोड़ डीजे और बेतहाशा शोर को लेकर है। इसपर बापट का कहना है कि बड़े साउंड सिस्टम और ढोल-ताशा की अनुमति नहीं दी जानी चाहिए, क्योंकि जब इन विशालकाय साउंड बॉक्सों की छूट मिलती है, तो डेसिबल के तय पैमानों को सुनिश्चित करना नामुमकिन हो जाता है। वह कहते हैं, ‘परंपरा के नाम पर किसी भी चीज को इजाजत नहीं दी जा सकती... इस तर्क से तो कोई यह भी कह सकता है कि सती

प्रथा और बाल विवाह भी पुरानी परंपराएं थीं और उन्हें भी जारी रहना चाहिए।’

शहर के रूढ़िवादी तबकों को यह तार्किक सवाल रास नहीं आया। 3 सितंबर को स्थानीय गणेश मंडल के पूर्व अध्यक्ष संतोष चव्हाण ने बापट को सरेआम थपड़ जड़ दिया। दर्ज एफआईआर के अनुसार, चव्हाण ने उन्हें नास्तिक और ‘गणपति-विरोधी’ कहा। इस कायराना हमले ने पुणे के प्रबुद्ध नागरिकों के आक्रोश को और भड़का दिया।

ऑडियोलॉजिस्ट कल्याणी मांडके सालों से इस मुद्दे को जनस्वास्थ्य के गंभीर खतरे के रूप में उठाती रही हैं। 2024 में उन्होंने गणेशोत्सव के दौरान शोर पर नियंत्रण के लिए नेशनल ग्रीन ट्रिब्यूनल (एनजीटी) का दरवाजा खटखटाया था। इसके आंकड़े चौंकाने वाले हैं। कॉलेज ऑफ इंजीनियरिंग, पुणे (सीआईपी) के अध्ययन में पाया गया कि लक्ष्मी रोड पर 2023 के उत्सव के विसर्जन वाले दिन औसत ध्वनि स्तर 105.2 डेसिबल तक पहुंच गया था, जो कि आवासीय क्षेत्रों के लिए तय दिन की 55 डेसिबल और रात की 45 डेसिबल की कानूनी सीमा से अधिक था।

अगस्त 2024 में गणेशोत्सव से ठीक पहले एनजीटी ने प्रथा और बाल विवाह भी पुरानी परंपराएं थीं और उन्हें भी जारी रहना चाहिए।’

विद्यानंद बापट की मुहिम ने शहर के रूढ़िवादी तबकों और सत्ताधारी संरक्षण को असहज कर दिया है। यह सिर्फ शोर का मुद्दा नहीं, बल्कि सार्वजनिक स्थलों पर आम नागरिकों की शांति और सवैधानिक अधिकारों की रक्षा की लड़ाई है



फोटो: जेटी इमेजेज

पंडालों और विसर्जन जुलूसों में ध्वनि स्तर की रियल-टाइम निगरानी, लाउडस्पीकरों की क्षमता के नियमन, ढोल-ताशा-झांझ वादकों की संख्या सीमित करने, नियमों के उल्लंघन पर साउंड सिस्टम जन्त करने और विसर्जन जुलूसों में डीजे पर पूर्ण प्रतिबंध लगाने का आदेश दिया था। बॉम्बे हाईकोर्ट ने भी नगर निगम अधिकारियों को सड़कों पर अवैध अस्थायी ढांचों और अत्यधिक शोर के खिलाफ सख्त कार्रवाई का निर्देश देते हुए चेतावनी दी थी कि प्रशासन की निष्क्रियता को संविधान के अनुच्छेद 21 के तहत नागरिकों के मौलिक अधिकारों का हनन माना जा सकता है। लेकिन एनजीटी के सख्त आदेश और हाईकोर्ट की गंभीर टिप्पणियां सत्ता और प्रशासन के बहरे कानों पर बेअसर साबित हुईं।

* पुणे का इतिहास प्रगतिशील सोच और स्वयंभू ‘सनातनियों’ में तीखे और अक्सर हिंसक टकरावों से भरा रहा है। वास्तव में, थोपी गई परंपराओं पर तार्किक सवाल उठाना महाराष्ट्र की ऐतिहासिक परंपरा रही है। तेरहवीं शताब्दी में संत ज्ञानेश्वर ने ‘ज्ञानेश्वरी’ के जरिये भगवद्गीता को जनभाषा मराठी में प्रस्तुत किया था। यह कोई आधुनिक तर्कवादी घोषणापत्र नहीं बल्कि एक धार्मिक ग्रंथ था, लेकिन उस दौर में संस्कृत ग्रंथ को आम जनता की भाषा में ले जाना अपने आप में एक क्रांतिकारी सांस्कृतिक कदम था। उस समय ज्ञानेश्वर और उनके भाई-बहनों को पुणे के अभिजात्य रूढ़िवादी वर्ग के भारी आक्रोश और प्रताड़ना का सामना करना पड़ा था।

संत तुकाराम सहित वारकरी संत भी कोई आधुनिक धर्मनिरपेक्षतावादी नहीं थे। उनका विद्रोह धर्म और आस्था



गणेशोत्सव के दौरान तय सीमाओं को पार करता शोर का स्तर (बाएं) इसका विरोध करने पर पुणे के विद्यानंद बापट पर किया गया हमला

की परिधि के भीतर ही था। तुकाराम के भक्तिमय अभंगों ने कर्मकांडी आडंबरों, जातीय अहंकार और धर्म सत्ता पर चंद लोगों के एकाधिकार को चुनौती दी थी।

आगे चलकर ज्योतिराव फुले ने जातिगत पदानुक्रम और व्यवस्था पर सीधा प्रहार किया। आगरकर और गोखले ने आधुनिक तर्क, विवेक और समाज-सुधार को अपनी राजनीति के केंद्र में रखा। पुणे का गणेशोत्सव-बल्कि पूरे महाराष्ट्र का समाज-आज भी इसी वैचारिक द्वंद्व और खिंचाव को समेटे हुए है।

* 1890 के दशक में बाल गंगाधर तिलक द्वारा शुरू किया गया आधुनिक सार्वजनिक गणेशोत्सव दरअसल औपनिवेशिक हुकूमत के खिलाफ जनता की लामबंदी और ब्रिटिश सत्ता को खुली चुनौती देने के लिए एक क्रांतिकारी जन-मंच के रूप में उभरा था। लिहाजा, भगवान गणेश की पूजा तो एक प्राचीन परंपरा है, लेकिन गणपति को सड़कों पर लाकर जन-उत्सव बनाना कोई सदियों पुरानी परंपरा नहीं।

यह सार्वजनिक उत्सव भी एक सदी से अधिक के सफर में काफी बदल चुका है और आज इस पर एक खास राजनीतिक रंग चढ़ चुका है, जहां सत्ता से जुड़े राजनेता अपने वोट बैंक को लामबंद करने के लिए इन कानफोड़ और दिखावटी आयोजनों पर पानी की तरह पैसा बहाते हैं। बापट की मुहिम दरअसल इसी गद्दी गई आधुनिक ‘परंपरा’ को आईना दिखाने की कोशिश है। जहां तिलक ने गणेशोत्सव को सामाजिक चेतना और जन-लामबंदी का जरिया बनाया था, वहीं बापट आज यह सीधा सवाल पूछ रहे हैं कि क्या आस्था और उत्सव के नाम पर सड़कों पर मनमाने कब्जे को जायज ठहराया जा सकता है, खासकर तब जब वह नागरिकों के निजी जीवन और शांति के लिए खुला खतरा बन चुका हो?

निकाले देखा जाता है, दरअसल पुरानी सांख्य परंपरा की याद दिलाती है, जिसकी जड़ें बंगाल की मिट्टी में गहरी हैं।

मैंने सिन्हा से पूछा कि क्या बंगाल के सामाजिक ताने-बाने के अनुरूप अपने तौर-तरीकों को बदले बिना वह इस राज्य में विस्तार की योजना बना रहे हैं? जवाब में उन्होंने बताया कि कैसे रामनवमी के जुलूस बड़े होते जा रहे हैं, कैसे उनका संगठन फैल रहा है, और वह कैसे सभी धार्मिक संस्थाओं से संपर्क साध रहे हैं। जब मैंने थोड़ा और कुरेदा, तो वह चैतन्य महाप्रभु की बंगाल से ओडिशा की एक यात्रा का ही जिक्र कर सके। वह यह स्वीकारने को तैयार नहीं थे कि हिन्दू धर्म का उनका यह ब्रांड आम बंगाली हिन्दू की आस्था, धार्मिक आचरण और रोजमर्रा की जिंदगी से सीधे टकराता है।

हालिया घटनाक्रम दिखाते हैं कि वे अब भी इससे सबक नहीं सीख पाए हैं। उत्तर भारत के खान-पान के तौर-तरीकों को थोपने की यह कोशिश बंगाल की शाक्त विरासत से टकराती है। यह उस संगठन की समझ के खोखलेपन या हठधर्मिता को उजागर करती है जो उस जमीन की जुबान न तो बोल सकता है और न ही बोलना चाहता है जिसे वह जीतना चाहता है। ऐसा क्यों है?

इसका जवाब शायद हिन्दू धर्म के उस बहुलवादी इतिहास में छिपा है जहां शैव, शाक्त और वैष्णव परंपराएं साथ-साथ पली-बढ़ीं और आपस में टकराईं भी। भारतीय धार्मिक संप्रदायों का इतिहास-चाहे वह बौद्ध, जैन या आजीवक जैसी गैर-वैदिक परंपराओं के बीच का हो, या खुद हिन्दू धर्म के विभिन्न संप्रदायों का-लगातार वैचारिक बहसों और संवादों का इतिहास रहा है।

अगर भारतीय धार्मिक इतिहास के केन्द्र में जातिगत संघर्ष थे, तो आस्था और विश्वास के रूपों को लेकर हुए विमर्श भी कम महत्वपूर्ण नहीं थे। इब्राहमिक धर्मों के विपरीत, भारतीय परंपराओं ने कभी किसी एक सर्वोच्च धर्मगुरु या एक पवित्र ग्रंथ के एकाधिकार को स्वीकार नहीं किया। ऐतिहासिक परिस्थितियों से गढ़े हुए विविध धार्मिक संप्रदाय और दार्शनिक चिंतन अलग-अलग दौर और जगहों पर फले-फूले, जिसने हमारे अतीत को विशिष्ट रूप से तर्कशील बनाया।

संघ उत्तर और पश्चिम भारत के रंग में रंगे उस बनिया-वैष्णव सांचे को, जिसमें जैन धर्म की शुचिता की अवधारणाएं भी मिली हुई हैं, हिन्दू धर्म के एकमात्र वैध रूप के तौर पर थोपने पर आमादा दिखता है। लेकिन इस सांचे को पूरे भारत पर थोपा नहीं जा सकता। आज बंगाल में जो कुछ हो रहा है, वह कोई शुरुआती अड़चन भर नहीं है; यह एक पराई और बाहरी संस्कृति को थोपने की सुनियोजित कोशिश है। अगर संघ हिन्दू धर्म को लेकर अपने संकीर्ण नजरिए को क्षेत्रीय वास्तविकताओं के अनुसार ढालने में नाकाम रहता है, तो उसे बंगाल में मौजूदा जनाक्रोश से भी बदतर विरोध का सामना करना पड़ेगा।

लेकिन मुझे इस बात पर गहरा संदेह है कि क्या अखिल भारतीय सांस्कृतिक राष्ट्रवाद और धार्मिक वर्चस्ववादी एजेंडे पर टिकी कोई राजनीतिक विचारधारा कभी सचमुच ‘क्षेत्रीय’ या उदार हो भी सकती है, या फिर यह एक ऐसा बुनियादी अंतर्विरोध है जिसे वह कभी हल नहीं कर पाएगी? ■

सड़क वह सार्वजनिक स्थान है जहां हर नागरिक के अधिकार एक-दूसरे से जुड़ते हैं और टकराते हैं। किसी व्यक्ति या समुदाय के उत्सव मनाने के अधिकार को दूसरे नागरिक के बिना किसी बाधा के आने-जाने और सुरक्षित रहने के अधिकार का सम्मान करना होगा। आपके जश्न को मेरी शांति की इच्छा का आदर करना चाहिए। टकराव तब पैदा होता है जब एक विशेषाधिकार बाकी सब मानवीय और नागरिक अधिकारों को कुचल देना चाहता है।

बापट एक पल में ठेठ, धाराप्रवाह मराठी में अपनी बात रखते हैं और आगले ही पल सामाजिक सिद्धांतों के हवाले देते हुए उतनी ही सहजता से अंग्रेजी बोलने लगते हैं। उनकी यह शैली महाराष्ट्र की समृद्ध तार्किक वाद-विवाद की परंपरा को फिर से जीवंत करती है। बस माध्यम बदल चुका है-जहां पहले पच्चे और सार्वजनिक सभाएं वैचारिक अखाड़ा हुआ करती थीं, आज वही जगह सोशल मीडिया ने ले ली है।

बापट लगातार यह कहते रहे हैं कि उन्हें किसी की निजी आस्था से कोई ऐतराज नहीं। वह केवल एक नागरिक और जनस्वास्थ्य से जुड़े सवाल उठा रहे हैं। सार्वजनिक स्थलों पर लाउडस्पीकरों और ढोल-ताशा पर पूरी तरह पाबंदी लगाने की उनकी मांग शायद बहुत सख्त लग सकती है। यहां तक कि कुछ गणेश मंडलों ने भी सुझाव दिया है कि ढोल और स्प्रेकरों की संख्या सीमित करके और कानूनी डेसिबल सीमाओं का सख्ती से पालन करके बीच का रास्ता निकाला जा सकता है। लेकिन सत्तारूढ़ भाजपा के कई नेताओं के लिए एक सख्त को इन जायज नागरिक मांगों के आगे झुकने का सीधा मतलब उस सियासी रसूख और धुवीकरण की जमीन को खोना है, जो उन्होंने उत्सव के राजनीतिक इस्तेमाल के जरिये तैयार की है। ■



आकाश आनंद का अस्थिर राजनीतिक कैरियर

मिनी बंदोपाध्याय

बहुजन समाज पार्टी (बसपा) की मुखिया मायावती ने 10 सितंबर को अपने भतीजे आकाश आनंद से ‘पूरी तरह’ से नाता तोड़ लिया। X पर यह घोषणा करते हुए उन्होंने लंबी, नाराजगी भरी पोस्ट में बताया कि आकाश का उनके हालिया दृवीट को रीपोस्ट न करना किस तरह उनकी बेवफ़ाई का ‘पक्का सबूत’ बन गया। जाहिर है खबर हैरान करने वाली थी और लोग भरोसा नहीं कर पा रहे थे कि मायावती वाक़ई ऐसा कर रही हैं!

पोस्ट में आनंद के ससुर अशोक सिद्धार्थ को पार्टी से इस्तीफ़ा देने को कहा गया था, और उन्होंने ऐसा ही किया भी। अशोक ने X पर कहा कि मायावती का आदेश उनके लिए सर्वोपरि है, लेकिन उन्होंने इस आरोप का खंडन भी किया कि उनके दामाद ने उनके प्रभाव में आकर कोई काम किया था।

मायावती अपने दमंग और रूख़े व्यवहार के लिए ख़्यात हैं, लेकिन सवाल है कि अपने भतीजे और उनके ससुर को इस तरह सार्वजनिक तौर पर अपमानित करने से

2027 के चुनाव में बसपा को क्या हासिल होगा? उनके अजीब व्यवहार और बढ़ते असुरक्षाबोध के कारण उनके अपने मुख्य वोटबैंक दलित समुदाय का भी उन पर से भरोसा कम हो रहा है।

आकाश आनंद को अपमानित करने की ताजा शुरुआत इस महीने के शुरू में हुई, जब उन्हें पार्टी के नेशनल कोऑर्डिनेटर पद से हटा दिया गया। यह घोषणा भी मायावती ने सोशल मीडिया पर की और कहा कि ‘वह अभी इतने परिपक्व नहीं हुए हैं’। आनन-फ़ानन X पर आकाश का बायो भी पहले ‘चीफ नेशनल कोऑर्डिनेटर’ से बदलकर ‘पार्टी वर्कर’ और फिर ‘पार्टी सपोर्ट बीएसपी’ हो गया। 15 अगस्त 2026 के बाद से, ऐसा लगता है कि उन्होंने X पर कुछ पोस्ट भी नहीं किया है।

आकाश के छोटे भाई, ईशान आनंद पार्टी के नए ‘सेक्टर-इन-चार्ज’ नियुक्त हुए हैं। (बसपा के तीन सेक्टर हैं, जिसमें से उत्तर प्रदेश और उत्तराखंड सेक्टर मायावती सीधे खुद देखती हैं।) आकाश और ईशान दोनों ने उच्च अध्ययन के लिए ब्रिटेन जाने से पहले स्कूली पढ़ाई नोएडा में की थी। सब

मानते हैं कि आकाश एक अच्छे वक्ता हैं, उनकी रैलियों में खासी भीड़ जुटती रही है और सोशल मीडिया पर भी उनकी मौजूदगी लगातार बढ़ रही थी।

उनके अचानक हाशिये पर चले जाने की एक वजह यह बताई जाती है कि बुआ मायावती को उनके भाषणों की तलखी पसंद नहीं आयी। आकाश नेताओं का नाम लेकर उनपर हमले कर रहे थे, कुछ पर आरक्षण खत्म करने की कोशिश का आरोप लगाया और आरएसएस की भी लगातार आलोचना की। चर्चा है कि भाजपा और केन्द्र सरकार पर उनके कड़े हमलों ने रही-सही कसर भी पूरी कर दी।

चर्चाओं के अनुसार दूसरी वजह यह रही कि बीजेपी नेतृत्व नहीं चाहता था कि उत्तर प्रदेश में बसपा से कोई युवा और ज्यादा लोकप्रिय दलित नेता उभरे, इसलिए उधर से मायावती पर दबाव था।

दलित राजनीति पर लंबे समय से नजर रखने वाले कमल जयंत कहते हैं, “उन्हें पार्टी के भावी चेहरे के तौर पर पेश किया गया और एक समय तो उन्हें औपचारिक रूप से मायावती का उत्तराधिकारी भी घोषित कर

दिया गया था। युवा समर्थकों के बीच उनकी बढ़ती लोकप्रियता और संगठन के भीतर अपनी बात मनवाने की कोशिशों ने उन्हें एक ऐसा कद दिया जो आम पदाधिकारी से कहीं बढ़कर था।”

कमल याद करते हैं कि किस तरह आकाश ने पार्टी के निष्क्रिय पदाधिकारियों की आलोचना की थी और संगठन में पद संभालने वालों से और जवाबदेही की अपेक्षा की थी। उनका ऐसा करना पार्टी के उन स्थापित नेताओं को नाराज करने का काम कर गया, जो सालों तक मायावती के साथ काम करते रहे थे।

10 दिसंबर, 2023 को आकाश को मायावती का राजनीतिक उत्तराधिकारी घोषित करते हुए और राष्ट्रीय समन्वयक नियुक्त किया गया। लेकिन चंद महीनों के भीतर ही उनसे न सिर्फ सारी जिम्मेदारियां छीन ली गईं, बल्कि अप्रैल 2024 में लोकसभा चुनाव प्रचार से भी दूर रखा गया। 23 जून, 2024 को उन्हें फिर से राष्ट्रीय समन्वयक बनाया गया। मार्च 2025 में अपने ससुर के प्रभाव में आकर अहंकार और ज़रूरत से ज्यादा महत्वाकांक्षा दिखाने का आरोप लगाकर उन्हें पार्टी से निकाला गया, लेकिन 13 अप्रैल को फिर से माफ़ी दे दी गई। 18 मई को एक बार फिर राष्ट्रीय समन्वयक बनाया गया और 29 अगस्त को उन्हें ‘मुख्य राष्ट्रीय समन्वयक’ का नया पद सुज़ित कर उसकी कमान थमा दी गई। आखिर इस उतार-चढ़ाव भरे सफ़र सबब क्या था?

मायावती ने खुद कहा है कि उनके लिए अपने परिवार से ज्यादा ज़रूरी उनका समाज है (उन्होंने कांशीराम के उस फ़ैसले का ज़िक्र किया जिसमें उन्होंने अपना जीवन बहुजन आंदोलन के लिए समर्पित कर दिया था)। वह भले ही कहें कि परिवारवाद की राजनीति में विश्वास नहीं रखतीं, लेकिन उनके भाई पार्टी के उपाध्यक्ष हैं और दूसरे भतीजे ने आकाश की जगह ली है। अशोक सिद्धार्थ भी राज्यसभा भेजे ही गए थे।

सवाल है कि अब आकाश क्या करेंगे? क्या बसपा से अलग होकर अपनी राह चुनेंगे? किसी दूसरी पार्टी में शामिल होंगे



अनायास ही नहीं निकाले जा रहे समाजवादी छात्र सभा की नीले रंग की वेशभूषा के सियासी अर्थ

या राजनीति छोड़कर परिवार का कारोबार संभालेंगे? नज़रें उन पर इसलिए भी रहेंगी, क्योंकि उत्तर प्रदेश में 2027 के अत्यंत अहम विधानसभा चुनाव अब बहुत नजदीक हैं।

नीला रंग कुछ खास है!

समाजवादी छात्र सभा ने अपना रंग बदल लिया है। उसका नया ड्रेस कोड है: नीली टी-शर्ट और नीली जींस। पुरानी यूनिफॉर्म वाली लाल टोपी भी बरकरार है। समाजवादी पार्टी अध्यक्ष अखिलेश यादव ने कहा कि नीला रंग बाबासाहेब आम्बेडकर और ‘बहुजन समाज’ (पार्टी नहीं, आम जन) का प्रतीक है। छात्र सभा के सदस्यों के साथ एक प्रेस कॉन्फ्रेंस संबोधित करते हुए सपा प्रमुख ने आलोचकों को समझाने की कोशिश की कि उन्होंने यह बदलाव क्यों किया? आलोचक मान रहे थे कि सपा उस रंग को अपना रही है, जो लंबे समय से दलितों, मायावती और बसपा की पहचान रहा है।

भाजपा की एक सहयोगी पार्टी के नेता ओम प्रकाश राजभर कहते हैं कि ड्रेस कोड बदलने से दलित वोट नहीं मिलने वाले। जानकार भी यही मानते हैं। बीते कुछ दशकों में उत्तर प्रदेश में जिन दलितों ने बसपा का साथ छोड़ा, ज्यादातर ने भाजपा का हाथ थामा। इसका कुछ संबंध तो भाजपा के

आक्रामक हिन्दुत्व से रहा, जिसके कारण दलितों को इसमें दूसरी जातियों के हिंदुओं के साथ जुड़ने और अपनी सामाजिक स्थिति बेहतर करने का मौका दिखता है, और दूसरी वजह है धन का लोभ (जो भाजपा के पास अथाह है)।

जानकार मानते हैं कि मायावती को मिलने वाले 12-13 प्रतिशत पक्के वोट बसपा के हाथ से निकलने की संभावना कम ही है। ऐसा मानने वाले कहते हैं कि दलित अगर सपा से जुड़ने का फैसला करते भी हैं, तो उन्हें ‘नीली यूनिफॉर्म’ से कहीं ज्यादा बड़ा आकर्षण दिखाकर लुभाना होगा। हालाँकि, पार्टी समर्थकों के बीच रंग के इस बदलाव को ज़ोर-शोर से प्रचारित करने के लिए अखिलेश यादव को पूरे नंबर मिलने चाहिए- इसमें हॉकी के मैदानों वाली आर्टिफिशियल टर्फ भी शामिल है! उन्होंने आगे कहा कि पश्चिमी देशों में नीली जींस ऐतिहासिक रूप से कामकाजी वर्ग से जुड़ी रही है। संभव है कि ‘नीला रंग अन्याय के खिलाफ बगावत का प्रतीक है’ वाला दावा छात्र सभा के सदस्यों सहित सब को संतुष्ट न कर पाया हो। हालाँकि, वे इस बात से जरूर सहमत थे कि नए लुक में वे ज्यादा आकर्षक दिख रहे थे। और हम भला इससे असहमत होने वाले कौन होते हैं? ■

सवाल है कि अब आकाश क्या करेंगे?

क्या बसपा से अलग होकर अपनी राह

चुनेंगे? किसी दूसरी पार्टी में शामिल

होंगे या राजनीति छोड़कर परिवार का

कारोबार संभालेंगे?

उत्तर प्रदेश में आत्मविश्वास गंवा चुकी भाजपा

खुल चुकी है बहुसंख्यक सांप्रदायिकता के पोषण की पोल। आगे का रास्ता भी नहीं सूझ रहा

कृष्ण प्रताप सिंह

पिछले तीन-चार दशकों से उत्तर प्रदेश के विधानसभा चुनावों का ‘जातियों और धर्मों के युद्ध’ में बदल जाना उनकी नियति-सी बनी हुई है। इसके लिए ज्यादातर कोशिशें सत्ता पक्ष द्वारा या उसकी ओर से की जाती रही हैं - जितनी भी गिरावट से संभव हो, अपनी सत्ता बचाए रखने के लिए। अलबत्ता, कभी-कभी विपक्षी दल भी उसकी चाल को समझने में विफल रहते और उसके जाल में फंसकर उसके जैसे ही करतब करने लग जाते रहे हैं।

जानकार बताते हैं कि ऐसी कोशिशें कुछ चोरी-छिपे की जाती हैं, कुछ खुल्लमखुल्ला और निर्लज्जतापूर्वक। ऐसे में मतदाताओं के लिए तय करना बहुत कठिन हो जाता है कि उनको खुल्लमखुल्ला ऐसे युद्धों में झोंकने वाले ज्यादा खतरनाक हैं या वे जो निहुरे-निहुरे ऊंट चरते और एक साथ धान कूटने एवं कांख ढकने की कोशिशें करते हैं।

विडंबना यह कि इनमें से किसी को भी धर्मों के उदात्त मूल्यों और नैतिकताओं से कोई लेना-देना नहीं होता। उनकी सबसे ज्यादा दिलचस्पी किसी भी कीमत पर विजय में होती है। भले ही उसके लिए नाना प्रकार की सांप्रदायिकताओं, संकीर्णताओं और कटुताओं को धर्मों का पर्याय बनाकर लोगों को भड़काना और आपस में भिड़ाना पड़े।

राष्ट्रकवि रामधारी सिंह दिनकर ने कभी इसी प्रवृत्ति के लोगों को लक्ष्य करके लिखा था : साधन को भूल सिद्धि पर जब टकटकी हमारी लगती है, फिर विजय छोड़ भावना और कोई न हृदय में जगती है। तब जो भी आते विघ्न रूप, हों धर्म, शील या सदाचार, एक ही सदृश हम करते हैं सबके सिर पर पाद-प्रहार। उतनी भी पीड़ा हमें नहीं होती है इन्हें कुचलने में, जितनी होती है रोज कंकड़ों के ऊपर हो चलने में।

लेकिन क्या इस बार के विधानसभा चुनाव में भी वैसा ही युद्ध होगा? और हुआ तो उसका नतीजा क्या होगा?

भारतीय जनता पार्टी की योगी आदित्यनाथ सरकार ने साढ़े नौ सालों में धार्मिक और सांप्रदायिक भेदभावों को चरम पर पहुंचा देने वाले कुशासन से प्रदेश को जिन हालात में पहुंचा दिया है (जिन्हें लेकर पत्रकार और स्तंभकार महेंद्र पांडे ने ‘नवजीवन’ की वेबसाइट पर ‘योगी राज’ में उत्तर प्रदेश, विज्ञापनों में समृद्ध, धरातल पर बदहाल’ शीर्षक अपने लेख में लिखा है), उनके कारण वह जैसी ऐंटीइन्कम्बैसी, साथ ही नई पीढ़ी का आक्रोश झेल रही और मतदाताओं की ओर से बहुत संभव बेदखली के फरमान से डरी हुई है, उसके मद्देनजर यह सोचना भी मुश्किल है कि वह कैसे युद्ध की पुनरावृत्ति नहीं चाहेगी।

लेकिन इस बार स्थिति में एक बड़ा फर्क है। यह कि अंदरूनी-बाहरी अनेक कारणों से भाजपा का आत्मविश्वास उसके साथ नहीं है। हां, योगी आदित्यनाथ का भी नहीं। कारण यह कि बहुसंख्यक सांप्रदायिकता के पोषण के उनके पुराने खटाराग की पोल खुल चुकी है और उसके आगे का कोई रास्ता उनको सूझ नहीं रहा।



सहारनपुर में लगभग डेढ़ सौ साल पुरानी मस्जिद को ढहाकर उत्तर प्रदेश सरकार ने स्पष्ट संकेत दे दिया है कि उसके मंजुबे क्या हैं

रामपुर में जौहर विश्वविद्यालय के 40 में से 38 भवनों को अवैध घोषित करके ध्वस्त करने की कार्रवाई मुरादाबाद मंडल के आयुक्त कोर्ट द्वारा अंतरिम रोक लगा देने के कारण ‘संपन्न’ नहीं हो पाई तो बजरंग दल के एक नेता की शिकायत पर सहारनपुर के कलेक्ट्रेट परिसर में स्थित डेढ़ सौ साल पुरानी मस्जिद को ढहा देने से सरकार और भाजपा का मंसूबा बिल्कुल साफ हो गया है कि जिस बहुसंख्यक सांप्रदायिकता को पालती पोसती आई हैं, उसके और जिन्यों को उनकी बातलों के बाहर करना चाहेंगी। नतीजा कुछ भी हो, उनकी बला से।

कई प्रेक्षकों का अनुमान है कि इन जिन्यों को बातल से बाहर निकाल चुकने के बाद वे विधानसभा चुनाव समय से पूर्व तो कराना चाह सकती हैं, लेकिन अपने जिन्यों के किए-धरे से आश्वस्त न होने के कारण उस रास्ते पर जाने से भी परहेज नहीं करेंगी, विपक्ष द्वारा शासित राज्यों में जिसे रेवड़ियां बांटना कहकर उसकी आलोचना करती रही हैं। तब, जैसे कुतर्कों की मार्फत वे नफरतों की अपनी पैरोकारी को जायज ठहराती रहती हैं, वैसे अपनी रेवड़ियों को भी जायज ठहराएंगी।

सामाजिक-आर्थिक मुद्दों को दरकिनार करने और जवाबदेही से बचने का ‘परंपरागत युद्ध’ का तरीका उनको खूब रास आता रहा है। यह और बात है कि इस बार ऐसा कहने वाले भी कम नहीं हैं कि उनकी काठ की हांडी अब नहीं ही चढ़ने वाली।

गौरतलब है कि भाजपा द्वारा 1991 में प्रदेश में पहली बार

भाजपा को सामाजिक-आर्थिक मुद्दों को

दरकिनार करने और जवाबदेही से बचने

का तरीका खूब रास आता रहा है। लेकिन

लगता नहीं कि उसकी काठ की हांडी फिर

चढ़ सकेगी

सरकार बनाने से पहले एक समय ऐसा भी था, जब सत्ता की राजनीति इतनी विवेकहीन नहीं हुई थी और समझती थी कि नुकसानदेह तो अल्पसंख्यक और बहुसंख्यक दोनों सांप्रदायिकताएं होती हैं, लेकिन बहुसंख्यक सांप्रदायिकता के नुकसान अपेक्षाकृत बहुत ज्यादा होते हैं। इसलिए अपेक्षा की जाती थी कि जो भी दल सत्ता में आए, उसे हर हाल में बहुसंख्यक सांप्रदायिकता को काबू में रखने के जतन करने ही करने चाहिए।

लेकिन योगी सरकार डेके की चोट पर राज्यव्यवस्था का दुरुपयोग कर बहुसंख्यक सांप्रदायिकता का पोषण करती रहती है। 2024 के लोकसभा चुनाव में अयोध्या और उसके आसपास की सारी लोकसभा सीटें हार जाने का उसका ग़म उसके बाद के प्रदेश विधानसभा के उपचुनावों में जीत हासिल करने के बाद भी गलत नहीं हो पाया। चढ़ावा चोरी और लखनऊ में भाजपा के नए-नवेले अध्यक्ष नितिन नबीन के स्वागत में हनुमान के स्वरूप के दुरुपयोग के मामलों में फंसंत ने उसका कहीं का नहीं छोड़ा है। ऐसे में वह अयोध्या मुद्दे से ज्यादा उम्मीद नहीं कर पा रही और मथुरा एवं काशी पर ज्यादा जोर लगा रही है।

इसीलिए योगी ने श्रीकृष्ण जन्माष्टमी पर मथुरा जाकर कुछ ऐसे अंदाज में एलान किया कि ‘सनातन धर्म में कोई भिदा नहीं सकता’। उन्होंने संकेतों में विपक्षी दलों को आक्रांताओं से भी जोड़ा और कहा कि जिनकी आस्था आक्रांताओं में रही है, वे कभी सनातन संस्कृति का सम्मान नहीं कर सकते।

प्रेक्षक कहते हैं कि जैसे-जैसे चुनाव नजदीक आएगा, योगी बहुसंख्यक मतदाताओं को अपने पाले में करने के लिए उनको ऐसे और फोबियाओं के हवाले करना चाहेगा। लेकिन यह उनकी मजबूती के नहीं, कमजोर आत्मविश्वास के चलते होगा। लगता है कि योगी भी इस बात को समझते हैं। इसलिए योगी ने ‘तू नहीं और सही’ की तर्ज पर प्लान बी भी बना रखा है- रेवड़ियां बांटने का प्लान।

चालाकी यह कि रेवड़ियों के एलान से पहले अपने समर्थक मीडिया को उनके धुंआधार प्रचार के काम पर लगा दिया है। यह मीडिया खूब प्रचारित कर रहा है कि योगी सरकार आर्थिक रूप से कमजोर और जरूरतमंद महिलाओं को सशक्त करने (उनका वोट खरीदने) के लिए उनको 50,000 रुपये की नकद सरकारी सहायता की योजना लाने वाली है।

हाल ही में 60 वर्ष से अधिक उम्र की यानी वरिष्ठ महिला नागरिकों के लिए राज्य परिवहन की बसों में मुफ्त यात्रा की सुविधा भी शुरू की है। सरकारी योजनाओं के कार्यान्वयन में मानदेय पर काम करने वाले कई समूहों की मानदेय वृद्धि भी उसके विचाराधीन है। प्रदेश में ऐसा माहौल बनाया जा रहा है कि लोगों को लोककवि रफीक सादानी की ये पंक्तियां याद आ रही हैं : जब नगीचे चुनाव आवत है, भात माँगो पोलाव आवत है।

जहां तक ‘जाति युद्ध’ की बात है, भाजपा इससे परहेज का दावा करती और उनकी तोहमत अपने विरोधी दलों पर लगाती रही है। लेकिन वह जैसे ही मौका पाती है, जातियों के खेल में उनके कान काटने लग जाती है। कई प्रेक्षक उसके इस खेल को भी हिन्दुत्व के कार्ड से निराश होने के बाद उसके हारे को हरिनाम के तौर पर देखते हैं।

गत विधानसभा चुनाव से पहले तो उसने इस खेल में हद ही पार कर दी थी। तब, सात जुलाई, 2021 को प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी ने अपने मंत्रिमंडल का विस्तार किया तो जोर-शोर से प्रचार किया जाने लगा था कि उन्होंने उत्तर प्रदेश से तीन पिछड़े, तीन दलित और एक ब्राह्मण मंत्री बनाए हैं। फिर मुख्यमंत्री योगी आदित्यनाथ ने अपने मंत्रिमंडल का विस्तार किया, तब भी मंत्रियों की जातियां ही प्रचारित की गईं।

लेकिन इस बार इस रणनीति में एक पहलू यह भी आ जुड़ा है कि पिछड़ी जाति के होने के कारण पार्टी के लिए अहम उपमुख्यमंत्री केशव प्रसाद मौर्य द्वारा एबीपी न्यूज को दिए एक साक्षात्कार में मुख्यमंत्री बनने की अपनी महत्वाकांक्षा खुलकर स्वीकार करने से योगी चौंक हुए हैं। इसलिए कि मौर्य को भाजपा में योगी का सबसे प्रबल प्रतिद्वंद्वी माना जाता रहा है।

उक्त इंटरव्यू में मौर्य ने कहा है कि ‘हो सकता है अगली बार आप मुझे सीएम के रूप में देखें या किसी और रूप में देखें...अंतिम फैसला भाजपा का शीर्ष नेतृत्व और चुनाव के बाद विधायक दल ही करेगा।’ योगी और उनके समर्थकों के निकट मौर्य के इस कथन के कई भाष्य हैं और दुर्भाग्य से सभी उनकी चिंताएं बढ़ाने और आत्मविश्वास कम करने वाले हैं। ■

कूटनीतिक चुनौतियों का मुश्किल दौर

आशीष रॉय

फिलहाल दुनिया की नजरें भारत पर टिकी हैं। प्रतिष्ठित अंतरराष्ट्रीय पत्रिका ‘द डिप्लोमैट’ ने 12-13 सितंबर को नई दिल्ली में आयोजित हो रहे ब्रिक्स शिखर सम्मेलन के संदर्भ में यह बात कही। पत्रिका ने लिखा: ‘आज इस समूह का नेतृत्व करना एक कूटनीतिक बारूदी सुरंग पर कदम रखने जैसा है।’ बदकिस्मती से ऐसे हालात नरेन्द्र मोदी सरकार की भटकी हुई विदेश नीति और उनके नियंत्रण से बाहर के वैश्विक घटनाक्रमों का सीधा नतीजा हैं।

ब्रिक्स की शुरुआत 2009 में ‘ब्रिक’-ब्राजील, रूस, भारत और चीन-के रूप में हुई थी। 2010 में दक्षिण अफ्रीका इससे जुड़ा और 2011 में उसने अपनी पहली बैठक में हिस्सा लिया। 2024 में भारत के दबे-छिपे विरोध के बावजूद मिश्र, इथियोपिया, ईरान, सऊदी अरब और संयुक्त अरब अमीरात को पूर्ण सदस्य के रूप में शामिल किया गया, जबकि इंडोनेशिया 2025 में शामिल हुआ। उसी साल बेलारूस, बोलीविया, कजाकिस्तान, क्यूबा, मलेशिया, नाइजीरिया, थाईलैंड, युगांडा, उज्बेकिस्तान और वियतनाम को साझेदार देश का दर्जा दिया गया। आज का यह विस्तारित ब्रिक्स वैश्विक जीडीपी के 40 फीसद और दुनिया की 49.5 फीसद आबादी का प्रतिनिधित्व करता है।

जब तक प्रधानमंत्री डॉ. मनमोहन सिंह के नेतृत्व में भारत ने शीतयुद्ध के बाद अपनी गुटनिरपेक्ष और ‘मल्टी-अलायमेंट’ की नीति को साधे रखा, दुनिया में भारत का एक ठोस दबदबा और सम्मान था। यह संतुलन उस समय पूरी तरह चरमरा गया जब नरेन्द्र मोदी अचानक अमेरिका की गोद में जा बैठे और भारत की पारंपरिक विदेश नीति को सिर के बल खड़ा करते हुए इसराइल के साथ जा मिले-एक ऐसा देश जिसे ब्रिक्स के अन्य सभी सदस्य पूरी तरह अछूत मानते हैं।

तमाम अहम अंतरराष्ट्रीय मुद्दों पर आज का ‘मोदी-माका’ भारत अन्य ब्रिक्स देशों की कतार से बिल्कुल अलग-थलग खड़ा नजर आता है। इसका सबसे वीभत्स रूप फिलिस्तीन में इसराइल के युद्ध अपराधों और ईरान पर उसके उकसावे भरे हमलों के दौरान दिखा। किसी भी अंतरराष्ट्रीय मंच पर इसराइल की निंदा करने के बजाय भारत खुलकर इसराइल के पाले में खड़ा रहा-यहां तक कि उसे हथियारों की आपूर्ति भी की गई-जिसने भारत को ब्रिक्स के भीतर एक बेमेल और अलग-थलग मुल्क बना दिया।

मई में भारत की अध्यक्षता में हुई ब्रिक्स विदेश मंत्रियों की बैठक बिना किसी साझा बयान के बिखर गई थी, जिसे एक बड़ी विफलता माना



इसराइल का खुलकर समर्थन करने के बावजूद, प्रधानमंत्री मोदी के पास ईरान पर अमेरिका-इसराइल के सैन्य हमलों की निंदा करने वाले विश्वके घोषणापत्र पर हस्ताक्षर करने का कारण था

गया। नई दिल्ली को शुरू से यही डर सता रहा था कि कहीं मुख्य ब्रिक्स शिखर सम्मेलन का हथ्र भी वैसा ही न हो। सितंबर के शुरू में किर्गिस्तान में आयोजित शंघाई सहयोग संगठन (एससीओ) शिखर सम्मेलन में नरेन्द्र मोदी की मौजूदगी को इसी हताशा के संदर्भ में देखा जाना चाहिए। एससीओ असल में पूरी तरह चीन का मंच है, और वहां खुद चलकर जाने का मोदी का मकसद शायद चीनी राष्ट्रपति शी जिन्पिंग को दिल्ली ब्रिक्स में आने के लिए मनाना था हालांकि चीन ने इस मामले में अंतिम क्षणों तक भारत को झुलाए रखा। जिन्पिंग 2019 के बाद भारत नहीं आए हैं और उन्होंने 2023 में दिल्ली में हुए जी-20 सम्मेलन से भी दूरी बना ली थी।

मेजबान होने के नाते भारत की पहली कोशिश यही होगी कि सभी सदस्य देशों के राष्ट्राध्यक्ष मौजूद रहें। लेकिन सऊदी अरब के मोहम्मद बिन सलमान के आने पर अब भी संशय के बादल मंडरा रहे हैं। अगरत के शुरू में ही सऊदी अरब ने पाकिस्तान और तुर्की के साथ ‘मक्का पैकट’ पर दस्तखत किए हैं, जो नाटो की तर्ज पर बना एक सैन्य समझौता है और जिसके केन्द्र में ईरान और इसराइल के साथ-साथ भारत से संभावित सुरक्षा चिंताओं का भी ध्यान रखा गया है। एससीओ सम्मेलन के अंत में जारी ‘बिश्केक घोषणापत्र’ में सदस्य देशों ने ‘ईरान के इस्लामी

मनमोहन सिंह के बहु-धुवीय

संतुलन को छोड़कर अमेरिका

और इसराइल की गोद में बैठने

का नतीजा है कि भारत ब्रिक्स में

अफेला पड़ चुका है

दो पड़ोसियों को जोड़ती और बांटती एक नदी

कोलकाता से सौरभ सेन और ढाका से फैसल महमूद

भारत और बांग्लादेश के बीच 1996 में हुई गंगा जल संधि की मियाद दिसंबर 2026 में खत्म हो रही है और इसके नवीनीकरण का समय आ चुका है। समझौते पर तत्कालीन प्रधानमंत्री एचडी देवगौड़ा और तब बांग्लादेश की प्रधानमंत्री शेख हसीना ने दोस्ताना माहौल में संधि पर दस्तखत किए थे। लेकिन आज, जब संधि पर नए सिरे से बातचीत होनी है, दोनों ओर अविश्वास की गहरी खाई दिख रही है।

केन्द्र की सत्ता में भाजपा है और गंगा के ऊपरी प्रवाह वाले राज्यों-उत्तराखंड, उत्तर प्रदेश, बिहार और पश्चिम बंगाल- में भी उसका या उसके सहयोगी दलों का शासन है। पश्चिम बंगाल वह राज्य है जहां फरक्का बैराज पर गंगा दो धाराओं में बंटती है- एक बांग्लादेश जाती है जिसे पश्चा कहा जाता है, और दूसरी कोलकाता की तरफ मुड़ती है जिसे भागीरथी-हगुली के नाम से जाना जाता है। तटवर्ती राज्यों का राजनीतिक रंग माथने रखता है क्योंकि सत्तारूढ़ भाजपा की बयानबाजी और उसके सियासी कदम हाल के दिनों में बांग्लादेश और सीमा के दोनों ओर मुसलमानों के प्रति आक्रामक रहे हैं। ऐसे में स्वाभाविक रूप से अतीत का सद्भाव काफूर हो चुका है, जिसने संधि को खतरे में डाल दिया है।

बिहार से जनता दल (यू) सांसद संजय झा ने केन्द्र सरकार से संधि के मौजूदा स्वरूप को न बढ़ाने की मांग की। प्रेस नोट में उन्होंने कहा: ‘बिहार खैरत नहीं मांग रहा। हम वही मांग रहे हैं जो हमारा अपना वैज्ञानिक आकलन बताता है, ताकि 13 करोड़ लोगों को अगले 30 सालों के लिए पीने, सिंचाई और औद्योगिक उपयोग के पानी की किल्लत न झेलनी पड़े।’

पश्चिम बंगाल के राजनीतिक दल संधि के नवीनीकरण की जरूरत पर तो सहमत हैं, लेकिन इसके तौर-तरीकों पर उनमें गहरा मतभेद है। गाद, नदी तटों का कटाव और कोलकाता बंदरगाह में जहाजों की आवाजाही राज्य की मुख्य चिंताएं हैं। सत्ता में रहते हुए ममता बनर्जी ने केंद्र सरकार की उन द्विपक्षीय वार्ताओं का कड़ा विरोध किया था, जिनमें राज्य को किनारे कर दिया गया था।

राज्य में मौजूदा भाजपा सरकार के पास केन्द्र के रुख का समर्थन करने के अलावा विकल्प नहीं, हालांकि वह इस पर जोर दे रही है कि राष्ट्रीय सुरक्षा और संघीय जल प्रबंधन ही केन्द्रीय प्राथमिकताएं होनी चाहिए। वहीं, विपक्षी माकपा और कांग्रेस एक त्रिपक्षीय मॉडल की वकालत कर रहे हैं, जिसमें

संसद में खुली और व्यापक बहस, बिहार सहित संबंधित राज्यों से बहुपक्षीय परामर्श और पर्यावरण वैज्ञानिकों द्वारा तकनीकी समीक्षा शामिल हो।

यह याद रखना जरूरी है कि एचडी देवगौड़ा की जिस संयुक्त मोर्चा सरकार ने 1996 में समझौते पर दस्तखत किए थे, उसे बाहर से कांग्रेस और माकपा का समर्थन था। तब पश्चिम बंगाल में माकपा की सरकार थी। सीमा पर से मजबूत रिश्ते रखने वाले मुख्यमंत्री ज्योति बसु और कांग्रेस के वरिष्ठ नेता प्रणब मुखर्जी ने जहां इस कवायद को राजनीतिक मजबूती दी, वहीं पश्चिम बंगाल के तत्कालीन वित्त मंत्री असीम दासगुप्ता ने बांग्लादेश के साथ भारतीय वार्ता दल का नेतृत्व किया था। अलग-अलग राजनीतिक विचारधाराओं के बावजूद देवगौड़ा, बसु और मुखर्जी जल बंटवारे के सवाल पर एकमत थे।

*

तकनीकी नजरिये से देखें तो इस संधि ने वह परिणाम बखूबी दिए हैं जिसके लिए इसे तैयार किया गया था-यानी दोनों देशों के लिए पर्याप्त जल उपलब्धता। संदर्भ के लिए, विशेषज्ञ इसे सिंधु जल संधि से बेहतर और सफल मानते हैं, जो पहलगाम आतंकी हमले और उसके बाद शुरू हुए

बांग्लादेश ने साफ तौर पर कहा है कि

वह गंगा संधि की शर्तों में बदलाव चाहता

है। लेकिन भारत ने साफ नहीं किया है

कि उसकी तरफ से क्या पेशकश की

जा रही है



बेहतर दौर में भारत और बांग्लादेश गंगा जल संधि पर हस्ताक्षर करने में सफल रहे थे, जिसे विशेषज्ञ इसका आदर्श उदाहरण मानते हैं कि द्विपक्षीय संधि का मसौदा कैसे तैयार करना चाहिए

‘ऑपरेशन सिंदूर’ से दोनों देशों के रिश्तों में आई कड़वाहट से पहले भी विवादों में रही।

इसे सीमा पर जल संधियों के इतिहास में सबसे सफल व्यवस्था मानने की वजह बहुत सीधी है। ‘संडे नवजीवन’ से बातचीत में नदी विशेषज्ञ और पारिस्थितिक अर्थशास्त्री निलांजन घोष ने कहा: ‘यह बेहतरीन मॉडल है कि दो देशों के द्विपक्षीय समझौते का मसौदा कैसे तैयार हो और कैसे उसपर अमल हो।’

जल बंटवारे का यह फॉर्मूला 1 जनवरी से 31 मई के बीच पांच महीने के सूखे मौसम पर लागू होता है, जब फरक्का बैराज पर रीयल-टाइम आंकड़ों के आधार पर नदी के प्रवाह को मापा जाता है और 10-10 दिनों के अंतराल पर विभाजित किया जाता है। अगर प्रवाह 75,000 क्यूसेक से अधिक है, तो भारत को 40,000 क्यूसेक और बांग्लादेश को बाकी पानी जाता है। 70,000 से 75,000 क्यूसेक के प्रवाह पर बांग्लादेश को 35,000 क्यूसेक मिलता है और शेष भारत को। 70,000 क्यूसेक से कम प्रवाह होने पर उपलब्ध पानी आधा-आधा बांट दिया जाता है।

अगर किसी 10-दिवसीय चक्र के दौरान उपलब्धता 50,000 क्यूसेक से नीचे गिर जाती है, तो दोनों सरकारें पानी को न्यायसंगत रूप से छोड़ने के लिए तत्काल द्विपक्षीय आपातकालीन बातचीत शुरू करती हैं। सबसे सूखे दौर (11 मार्च से 10 मई) में, चरम मांग के दौरान समान पहुंच सुनिश्चित करने के लिए प्रत्येक देश को बारी-बारी से 10-10 दिन के चक्र में कम-से-कम 35,000 क्यूसेक का न्यूनतम प्रवाह सुनिश्चित किया गया है। संधि में दोनों पक्षों के प्रतिनिधियों वाली संयुक्त समिति का गठन भी अनिवार्य है जो फरक्का (भारत) और हाईड्रॉ ब्रिज (बांग्लादेश) पर दैनिक जल स्तर की निगरानी करती है।

गणराज्य पर सैन्य हमलों की निंदा करने वाले एससीओ के पूर्व ‘रुख’ को पूरी मजबूती से दोहराया। मोदी उन 10 नेताओं में शामिल थे जिन्होंने इस दस्तावेज पर दस्तखत किया। जबकि इससे पहले न तो खुद मोदी ने और न ही भारतीय विदेश मंत्रालय ने ईरान के खिलाफ फरवरी से जारी अमेरिका और इसराइल की खुली मनमानी और हमलों पर निंदा का एक शब्द तक कहा था।

यही नहीं, मोदी उस एससीओ बयान के भी साक्षीदार बने जिसमें संयुक्त राष्ट्र चार्टर, अंतरराष्ट्रीय कानूनों और विश्व व्यापार संगठन के नियमों के खिलाफ जाने वाले ‘एकतरफा प्रतिबंधात्मक कदमों’ यानी ईरान के खिलाफ अमेरिकी प्रतिबंध अभियान ‘ऑपरेशन इकोनॉमिक आउटकास्ट’ का सीधा विरोध किया गया था।

सम्मेलन के इतर मोदी ने ईरान के राष्ट्रपति मसूद पेजेशकियां से मुलाकात की। इसे ईरान की नाराजगी दूर करने की एक हताश कवायद माना गया। इस युद्ध में मोदी सरकार न केवल खुलकर इसराइल के साथ खड़ी दिखी, बल्कि उसने अमेरिकी दबाव के आगे घुटने टेकते हुए ईरान के चाबहार बंदरगाह से जुड़ी अपनी प्रतिबद्धताओं से भी कदम पीछे खींच लिए, जहां भारत ने भारी निवेश कर रखा था।

ईरान के आधिकारिक बयान के अनुसार मोदी ने पेजेशकियां से कहा कि ‘हाल के कठिन दौर

में भी हमने ईरान के साथ अपने सहयोग और संवाद को बनाए रखने की पूरी कोशिश की।’ यह तथाकथित ‘कठिन दौर’ किसी और का नहीं, बल्कि खुद मोदी का ही पैदा किया हुआ था, जो ‘माई फ्रेंड डॉनल्ड’ के फरमानों के आगे नतमस्तक रहे और नेतन्याहू की दागदार हुकूमत से अपनी गलबहियां कभी छिपा नहीं सके।

ईरान की ओर से बताया गया कि मोदी ने पेजेशकियां से बातचीत में कहा, ‘मैं आपकी इस बात से सहमत हूं कि कुछ लोग युद्ध में ही अपना हित देखते हैं’ क्या इसे अमेरिका और इसराइल की सभी हुई आलोचना माना जा सकता है? जवाब में पेजेशकियां ने ‘नई दिल्ली के समर्थन और सहयोग के प्रति आभार बताया।’ भारत की ओर से किसी भी तरह के ‘समर्थन और सहयोग’ का यह संकेत संघर्ष की शुरुआत से अब तक उसके अपनाए गए रुख से एक बड़ा यू-टर्न था।

मोदी सचमुच अमेरिका-इसराइल के प्रभाव चक्र से बाहर निकल रहे हैं या नहीं, यह परखने की असली कसौटी ब्रिक्स सम्मेलन के बाद भारत का वास्तविक आचरण ही होगा। तभी पता चलेगा कि मोदी एससीओ में चीन और ईरान को केवल इसलिए साधने गए थे ताकि दिल्ली का ब्रिक्स सम्मेलन किसी बड़े कूटनीतिक झटके से बच जाए। चीन के सरकारी अखबार ‘ग्लोबल टाइम्स’ ने लिखा, ‘जैसे ही नई दिल्ली ब्रिक्स के दौर में

कदम रखेगी, पूरी दुनिया की नजर इस बात पर होगी कि इस बैठक से क्या नतीजा निकलता है।’

रूसी राष्ट्रपति कार्यालय (क्रेमलिन) के प्रवक्ता दिमित्रो पेसकोव ने मीडिया से कहा: ‘हमें पूरा भरोसा है कि यह शिखर सम्मेलन सफल रहेगा।’ यह इस बात का संकेत है कि रूस एक बार फिर भारत की नैया पर लगाने की कोशिश करेगा जैसा कि उसने 2023 के दिल्ली जी-20 में किया था ताकि यूक्रेन युद्ध का हल्का-फुल्का जिक्र करके किसी तरह एक सर्वसम्मत साझा बयान पर मुहर लगवाई जा सके।

दक्षिण अफ्रीका के राष्ट्रपति सिरिल रामफोसा ने सम्मेलन में आने की पुष्टि कर दी है, जबकि उनका देश गाजा में इसराइल के युद्ध अपराधों और नरसंहार के खिलाफ दुनिया में सबसे मुखर रहा है। दिल्ली में दक्षिण अफ्रीका के उच्चायुक्त अनिल सुकलाल ने दावा किया है कि ‘भारत कई मोर्चों पर एक उपलब्धिपूर्ण शिखर सम्मेलन आयोजित करने जा रहा है।’

जहां तक ब्राजील का सवाल है, वह नेतन्याहू के युद्ध अपराधों के खिलाफ मजबूती से दक्षिण अफ्रीका के साथ खड़ा रहा है और उसने अंतरराष्ट्रीय न्यायालय (आईसीजे) में इसराइल के खिलाफ दक्षिण अफ्रीका के नरसंहार मामले का खुला समर्थन किया है। ब्राजील और दक्षिण अफ्रीका दोनों ही मोदी सरकार की बहुसंख्यकवादी नीतियों और लोकतांत्रिक संस्थाओं के अवमूल्यन को लेकर असहज रहे हैं, फिर भी वे पश्चिम एशिया पर एक आम सहमति बनाने में मदद कर सकते हैं।

भारतीय विदेश सेवा के गलियारों का भी यही मानना है कि रूस-यूक्रेन के टकराव और पश्चिम एशिया के भीषण युद्ध को देखते हुए यह सम्मेलन भारत के लिए एक बड़ी चुनौती है। मोदी इस जुए पर दांव लगा रहे हैं कि ब्रिक्स सम्मेलन से ट्रंप नाराज न हों, जो वैसे भी इस समूह के बिखर जाने पर सबसे ज्यादा खुश होंगे। सऊदी अरब और यूएई की मौजूदगी के कारण ब्रिक्स का साझा बयान एससीओ जितना तीखा ईरान-समर्थक नहीं हो सकता, फिर भी इस दस्तावेज में पश्चिम एशिया के हालात को नजरअंदाज करना भारत के लिए मुमकिन नहीं होगा।

विदेश मंत्रालय ने इस सम्मेलन के लिए ‘बिल्डिंग रेजिलिएंस एंड इनोवेशन फॉर कोऑपरेशन एंड सस्टेनेबिलिटी’ का जो जुमला उछाला है, वह संक्षिप्त नाम गढ़ने की मोदी सरकार की पुगनी बीमारी का ही हिस्सा है, लेकिन मौजूदा परिस्थितियों में यह उन मुश्किल मुद्दों से ध्यान भटकाने की कोशिश मात्र लग रही है जो इस शिखर सम्मेलन को विफल कर सकते हैं। ■

उपयोग तथा सीमा पर किसी बड़े नुकसान से बचने की कानूनी बाध्‍यता शामिल है। लेकिन ये अंतरराष्ट्रीय सिद्धांत किसी ऐसी ठोस संधि का विकल्प नहीं हो सकते जो पानी की सटीक मात्रा तय करती हो, संयुक्त निगरानी तंत्र देती हो और विवादों के समाधान की स्पष्ट प्रक्रिया तय करती हो।

संधि के तहत जल बंटवारे का जो तय गणित है, वह भी दांव पर लग जाएगा। सूखे मौसम के हर 10-दिवसीय चक्र में फरक्का पर उपलब्ध पानी को बांटने का कोई कानूनी रूप से बाध्‍यकारी द्विपक्षीय फॉर्मूला नहीं रहा जाएगा। अगर दोनों पक्ष बातचीत की मेज पर बैठते हैं, तो या तो मौजूदा व्यवस्था का ही नवीनीकरण होगा या फिर दोनों देश मजबूत गारंटियों और आधुनिक नदी-प्रबंधन प्रावधानों को शामिल करते हुए एक संशोधित संधि पर सहमति बना सकते हैं। दिसंबर 2026 तक कोई नया समझौता न होने पर बांग्लादेश को भले खास फर्क न पड़े, लेकिन जल संसाधन विशेषज्ञ आइनुन निशात ने ‘संडे नवजीवन’ को बताया कि ढाका अब केवल ‘1996 में जो मिला था उसे बचाए रखने’ तक सीमित नहीं। उसकी आधिकारिक बातचीत का रुख अब ‘ज्यादा पानी की हिस्सेदारी, पक्की गारंटी प्रणाली और नदी के बदलते जल-चक्र से निपटने के बेहतर समझौते’ की मांग कर रहा है। चुनौती यह है कि भारत का बातचीत का रुख दूसरी दिशा में जा रहा है, जहां नई दिल्ली को पहले बिहार और अन्य घरेलू राजनीतिक दबावों व मांगों का हिसाब लगाना है।

बांग्लादेश लगातार खुलकर बता रहा है कि वह अगली संधि से क्या चाहता है। भारत ने यह तो कहा है कि बातचीत कहां होनी चाहिए- यानी संयुक्त नदी आयोग में-लेकिन वह साफ नहीं कर पाया है कि वह बातचीत की मेज पर क्या पेशकश करने को तैयार है। ■



हिचकोले खाती ‘आप’, कांग्रेस को मिला ‘पायलट’

हरजेश्वर पाल सिंह

पांच महीने बाद होने वाला विधानसभा चुनाव तय कर देगा कि झाड़ू पंजाब में दूसरी बार चलेगी या फिर बाहर बुहार दी जाएगी। मुख्यमंत्री भगवंत मान के लिए अभी लगभग हर सड़क पर कंटीले तार खिंचे दिख रहे हैं।

शुरुआत उस संत-सिपाही टकराव से करते हैं, जिसका सामना हाल के इतिहास में पंजाब के किसी भी मुख्यमंत्री को नहीं करना पड़ा। 15 जून 2026 को अकाल तख्त ने मान को ‘गुरु द्रोही’ और ‘खालसा पंथ विरोधी’ करार दिया। यह कार्रवाई उस कथित वीडियो के बाद हुई जिसमें वह सिख गुरुओं और संत जरनैल सिंह भिंडरवाले के चित्रों पर शराब छिड़कते दिखाई दिए थे, और संगत को उनसे सारा नाता तोड़ने का हुक्म जारी किया। अकाल तख्त के आदेश आज भी लाखों पंजाबियों के लिए धार्मिक हुक्मनामे की हैसियत रखते हैं। वीआईपी कल्चर और सांप्रदायिक राजनीति के बरक्स साफ-सुथरे विकल्प के रूप में छवि गढ़ने वाली पार्टी के लिए, सिखों की सर्वोच्च धार्मिक पीठ द्वारा बेदखल किया जाना मान के राजनीतिक व नैतिक वजुद पर सीधा प्रहार था।

दूसरी ओर, आम आदमी पार्टी के खेमे में भारी बैचैनी है। मंत्रालय के कर्मचारी, कंप्यूटर शिक्षक और कर्मचारी यूनियनों का लंबा-चौड़ा कुनबा वेतन संबंधी अधूरे वादों को लेकर महीनों से धरने पर बैठा है। संयुक्त किसान मोर्चा के वैनर तले किसान संगठन दो बार चंडीगढ़-मोहाली सीमा पर जुट चुके हैं, जो मान को याद दिला रहे हैं कि ‘सरकार बदलो’ का हथियार दोनों तरफ वार करता है।

बात अब राजनीतिक नहीं बल्कि निजी हो चुकी है। पंजाब एवं हरियाणा हाईकोर्ट के एक सेवानिवृत्त जज ने मुख्यमंत्री की पत्नी गुरप्रीत कौर पर एक टुकर्म मामले को दबाने के लिए 5 करोड़ रुपये की रिश्वत लेने का खुला आरोप लगाया है। राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग (एनएचआरसी) ने इसपर कार्रवाई रिपोर्ट तलब की है, जबकि शिरोमणि अकाली दल ने मुख्यमंत्री कार्यालय से चल रहे इस कथित संस्थागत ‘लूट मॉडल’ की सीबीआई जांच की मांग की है।

वहीं, मान ने जीरा की एक रैली में गुरप्रीत



फोटो: जेटी न्यूजकेन

सिंह सेखों-जो 2016 के नाभा जेल ब्रेक कांड का मुख्य आरोपी है, जिसके जरिये खालिस्तान लिबरेशन फोर्स के प्रमुख हरमिंदर मित्तू को भगाया गया था- को पार्टी में शामिल कर लिया। यह वही नाभा जेल ब्रेक था जिसे ठीक एक दशक पहले अरविंद केजरीवाल ने पंजाब में ‘कानून-व्यवस्था के ध्वस्त होने’ का सबसे बड़ा सबूत बताया था।

दो अन्य घटनाएं भी ध्यान खींचती हैं। संगरूर में नशे के आतंक के खिलाफ विरोध जताने के लिए एक सिख युवक, मोहनजीत सिंह ने मान के काफिले को काले झंडे दिखाए। आरोप है कि हिरासत में उसे बिजली के झटके दिए गए और उसके ककारों (सिख मर्यादा के पांच अनिवार्य प्रतीक) की बेअदबी की गई। इस पर अकाल तख्त के जथेदार ने राज्य सरकार की तुलना क्रूर जकारिया खान से कर डाली। इसके कुछ ही दिन बाद, संगरूर के एक दलित दिहाड़ी मजदूर गुलजार सिंह ने वित्त मंत्री हरपाल चौमा से उन्हीं के गांव में बिक रहे ‘चिट्टे’ (सिंथेटिक ड्रग्स) को लेकर कड़े सवाल पूछे। इसके बाद सरपंच और पुलिस द्वारा सार्वजनिक रूप से माफी मांगने के लिए प्रताड़ित किए जाने से आहत होकर

गुलजार ने जहर खा लिया। राष्ट्रीय अनुसूचित जाति आयोग ने इस मामले में पंजाब के शीर्ष अधिकारियों को नोटिस जारी किए हैं, वहीं राहुल गांधी ने इस पूरे वाक्ये को ‘सवाल पूछने वालों को कुचलने की तानाशाही’ करार दिया है।

इस पर नशे का लगातार फैलता जाल, बेलगाम गैंगस्टर्स का राज, भ्रष्टाचार के गंभीर आरोप और चंडीगढ़ के बजाय दिल्ली में केजरीवाल के दरबार के प्रति जवाबदेह माने जाने वाले मुख्यमंत्री की छवि-इन सबने मिलकर ‘आप’ को हर मोर्चे पर कमजोर किया है। उधर, विरोधी दल महज शिकायतें करने के बजाय जमीनी लामबंदी में जुट गए हैं।

सुखबीर बादल नशा, स्वास्थ्य, पीने के पानी, खस्ताहाल सड़कों और चरमगई शिक्षा व्यवस्था के मुद्दों को लेकर ‘पंजाब बचाओ’ रैलियां कर रहे हैं। अकाली दल (वारिस पंजाब दे) ने जेल में बंद सांसद अमृतपाल सिंह को 2027 के चुनाव में मुख्यमंत्री के चेहरे के रूप में पेश किया है और सिख ‘शहीदों’ के परिवारों को मैदान में उतार रहा है। उनका दांव यह है कि नशे का गहराता संकट और खुद को संकटमोचक की तरह पेश करने वाले अमृतपाल के सहारे वह

चुनावी फायदा उठा लेगे। यहां तक कि ग्रामीण पंजाब में हाशिए पर पड़ी भाजपा को भी उसी नशे और लचर कानून-व्यवस्था के नैरेटिव में गुंजाइश दिख रही है, जिसे कभी मान ने चुनावी हथियार बनाया था। भाजपा ने 12 दिनों का नशा-विरोधी अभियान छेड़ा है और ‘आप’ की 1,000 रुपये वाली ‘मावां-धियां सत्कार योजना’ के मुकाबले अपनी 2,100 रुपये प्रति माह वाली ‘हरियाणा लाडो लक्ष्मी योजना’ का प्रचार पंजाब में शुरू कर दिया है।

इस सियासी गहमागहमी के बीच, कांग्रेस आलाकमान द्वारा भूपेश बघेल को पंजाब प्रभारी के पद से हटाकर कमान सचिन पायलट को सौंपने का फैसला पहली नजर में एक सामान्य फेरबदल लग सकता है। लेकिन गहराई से देखें, तो यह एक बड़ा और रणनीतिक सुधार है।

फरवरी 2025 में जिम्मेदारी पाने वाले भूपेश बघेल का काम कम-से-कम तीन धड़ों में बंटी पंजाब कांग्रेस को एक सूत्र में पिरोना था- एक तरफ चरणजीत चन्नी और सुखजिंदर रंधावा, दूसरी तरफ नेता प्रतिपक्ष प्रताप बाजवा का खेमा, और तीसरे छोर पर प्रदेश कांग्रेस अध्यक्ष अमरिंदर सिंह राजा वडिं। सबको एकजुट करने

के बजाय बघेल खुद एक गुट बन बैठे, और उन पर वडिंंग खेमे के प्रति खुले तौर पर पक्षपाती होने के आरोप लगे। यहां तक कि जुलाई में राहुल गांधी द्वारा किए गए संगठन फेरबदल-जिसमें वडिंंग को बनाए रखते हुए चन्नी को चुनाव प्रचार समिति का प्रमुख और रंधावा को कोर कमेटी का अध्यक्ष बनाया गया था- के बाद भी खींचतान थमी नहीं। पायलट की ताजपोशी संकेत है कि राहुल गांधी का राज्यव्यापी यात्रा से पहले चन्नी खेमे, जिसमें अधिकतर वरिष्ठ नेता हैं, को साधने की योजना है।

चन्नी, रंधावा और वडिंंग- तीनों ने सार्वजनिक रूप से पायलट की नियुक्ति का स्वागत किया है। 2022 के बाद से शायद ही किसी मुद्दे पर सहमत होने वाली इस तिकड़ी में ऐसी सर्वसम्मति का यह दुर्लभ क्षण था। सियासी गलियारों में अब यह सवाल गूंज रहा है कि क्या वडिंंग प्रदेश अध्यक्ष की कुर्सी बचा पाएंगे? चर्चा है कि आलाकमान उन्हें किसी ‘अन्य जिम्मेदारी’ के बहाने दिल्ली बुला सकता है- जो कांग्रेस की कार्यशैली में सम्मानजनक विदाई का दूसरा नाम है। वैसे, यहां एक बड़ा सबक छिपा है। कांग्रेस आलाकमान, गलतियों को सुधारने- कार्यकर्ताओं को सुनने, फेरबदल करने और सबको साथ

लेकर चलने-का माद्दा रखता है, जबकि भाजपाई नेतृत्व फैसले थोपने में यकीन रखता है।

कागज पर देखें तो पायलट आदर्श पसंद हैं। पंजाब की गुटबाजी की पुरानी लड़ाइयों का उनपर कोई बोझ नहीं, हर खेमे में उनकी स्वीकार्यता है, और वह राजस्थान से आते हैं जो छत्तीसगढ़ की तुलना में भौगोलिक और मिजाज के लिहाज से पंजाब के कहीं ज्यादा करीब है।

पूर्व नौकरशाह और पंजाब कांग्रेस के वरिष्ठ नेता हरदीप सिंह किंरा का मानना है कि युवा और ऊर्जावान पायलट ‘आम कार्यकर्ताओं और जमीनी कैडर के साथ बहुत सहजता से जुड़ते हैं।’ एक दशक के लंबे संघर्ष से तराशा गया सचिन पायलट का राजनीतिक फलसफा इस लिहाज से बेहद प्रासंगिक है। उन्होंने एक बार कांग्रेस कार्यकर्ताओं से कहा था, ‘नेता कई हो सकते हैं और राय भी कई हो सकती हैं, लेकिन गुट कोई नहीं है।’ राहुल के दौर से पहले पायलट ने राज्य के नेताओं के साथ सीधी बातचीत शुरू कर दी है, और उनके करीबियों का कहना है कि पंजाब को उनका संदेश बिल्कुल साफ है: हर गुट को हिस्सेदार बनना होगा, लेकिन अनुशासनहीनता बर्दाश्त नहीं की जाएगी।

जानकारों का कहना है कि बघेल कभी यह संतुलन नहीं साध पाए। वह पहली बार एक छोटी सी टीम के साथ प्रभारी बनकर आए और राज्य की जमीनी नब्ज को समझ नहीं सके। वडिंंग खेमे से बाहर के वरिष्ठ नेताओं के साथ उनका अलगाव और संवादहीनता उनकी सांस्कृतिक अनभिज्ञता, मिजाज की कमियों और जमीनी नेटवर्क के अभाव का ही नतीजा थी।

क्या पायलट अगले पांच महीनों में वह करिश्मा कर पाएंगे जो बघेल अठारह महीनों में नहीं कर सके? यही तय करेगा कि कांग्रेस ‘आप’ के सामने एक मजबूत और अपराजय विकल्प बनकर खड़ी होती है या फिर आत्मघाती कलह के उसी पुराने चक्रव्यूह में उलझकर रह जाती है। बहुकोणीय चुनावी दंगल में जो पार्टी अपना ही घर दुरुस्त करने में बहुत ज्यादा वक्त जाया कर देती है, वह अक्सर पाती है कि मतदाता तब तक किसी और दिशा में आगे बढ़ चुका है। ■

हरजेश्वर पाल सिंह एस्सीजीएस कॉलेज, चंडीगढ़ में इतिहास के प्राध्यापक हैं

नक्शा सुधारने का वक्त

संयुक्त राष्ट्र महासभा के मर्केटर मानचित्र की जगह ‘इक्वल अर्थ’ मॉडल अपनाने के ऐतिहासिक प्रस्ताव का होगा भू-राजनीतिक असर

अशोक स्वेन

संयुक्त राष्ट्र महासभा ने भौगोलिक सच्चाई की दृष्टि से एक दीर्घ लंबित और अत्यंत आवश्यक कदम उठाया है। 4 सितंबर को 164 देशों ने उस प्रस्ताव के पक्ष में मतदान किया, जिसमें महाद्वीपों और देशों को उनके वास्तविक अनुपातिक आकार में दिखाने वाले विश्व मानचित्रों के व्यापक उपयोग का आह्वान किया गया है। केवल अमेरिका ने इसके खिलाफ मतदान किया, जबकि छह देश मतदान से अलग रहे। यह प्रस्ताव मौजूदा मर्केटर प्रोजेक्शन पर रोक नहीं लगाता और न ही हर देश को इनमें से किसी एक नक्शे के उपयोग के लिए मजबूर करता है। यह सरकारों, स्कूलों, अंतरराष्ट्रीय संगठनों, मीडिया संस्थानों और तकनीकी कंपनियों को दुनिया के विभिन्न हिस्सों के आकार की तुलना करते समय समान-क्षेत्रफल वाले (इक्वल-एरिया) मानचित्रों, विशेष रूप से ‘इक्वल अर्थ’ प्रोजेक्शन के उपयोग के लिए प्रोत्साहित करता है। यह विवाद का विषय नहीं होना चाहिए था।

दुनिया का भूगोल पढ़ाने के लिए इस्तेमाल किए जाने वाले नक्शे को पृथ्वी का यथासंभव सटीक और सच्चा प्रतिनिधित्व करना चाहिए। फिर भी पुराने नक्शे के पैरोकारों ने इस सीधे और बुनियादी सिद्धांत को भी एक राजनीतिक हमले की तरह लिया है। उनकी प्रतिक्रिया दिखाती है कि लोग किसी जानी-पहचानी विकृति से भी कैसे भावनात्मक रूप से बंध जाते हैं।

मर्केटर प्रोजेक्शन को 1569 में गेरार्डस मर्केटर ने समुद्री नेविगेशन के लिए तैयार किया था। यह मर्केटर नक्शा समुद्री यात्राओं के लिए इसलिए क्रांतिकारी था क्योंकि यह जहाज की दिशा को सीधे रेखा के रूप में दिखाता था। नाविक दो बिंदुओं के बीच एक सीधी रेखा खींच सकते थे, अपने कंपास से आवश्यक दिशा पढ़ सकते थे, और समुद्र में उस रास्ते पर आगे बढ़ सकते थे। संयुक्त राष्ट्र समर्थित इक्वल अर्थ मानचित्र में दिशा एक घुमावदार रेखा के रूप में दिख सकती है, जो इसे पारंपरिक नौवहन के लिए थोड़ा कम सुविधाजनक बनाती है। लेकिन समुद्री यात्राओं के लिए बेहद उपयोगी कोई नेविगेशन चार्ट अनिवार्य रूप से कक्षाओं, न्यूज़रूमों या अंतरराष्ट्रीय संगठनों के लिए भी उपयुक्त नक्शा साबित हो, यह जरूरी नहीं। मर्केटर भूमध्य रेखा से दूर स्थित

भू-भागों को अत्यधिक बड़ा करके दिखाता है। नतीजतन, यूरोप, उत्तरी अमेरिका, ग्रीनलैंड और रूस- अफ्रीका, दक्षिण अमेरिका और एशिया के बड़े हिस्सों की तुलना में अपने वास्तविक आकार से कहीं ज्यादा बड़े दिखते हैं। कोई इलाका भूमध्य रेखा से जितना दूर होता है, उसका आकार उतना ही बढ़ा-चढ़ाकर पेश किया जाता है।

इसका सबसे चौंकाने वाला उदाहरण अफ्रीका और ग्रीनलैंड की तुलना है। मर्केटर नक्शे पर वे दोनों लगभग समान आकार के दिखते हैं। हकीकत में, अफ्रीका ग्रीनलैंड से लगभग चौदह गुना बड़ा है। अफ्रीका का क्षेत्रफल 3 करोड़ वर्ग किलोमीटर से अधिक है। यह इतना विशाल है कि इसमें अमेरिका, चीन, भारत और अधिकांश यूरोप एक साथ समा सकते हैं। लेकिन स्कूलों बच्चों की पीढ़ियों को दिखाए जाने वाले नक्शे पर यह यूरोप से थोड़ा ही बड़ा नजर आता है।

यह डिजाइन की कोई मामूली या तकनीकी भूल नहीं। यह हमारे ग्रह की एक झूठी और भ्रामक तस्वीर है, जिसे इतनी बार दोहराया गया है कि अधिकतर लोग इसपर सवाल उठाना ही भूल चुके हैं। जो चीज पहचानी हुई होती है वह स्वाभाविक लगने लगती है, जबकि एक सटीक नक्शा लोगों को सिर्फ इसलिए अजीब लगता है क्योंकि उन्हें गलत अनुपातों को ही सच मानने की आदत डाल दी गई है।

यथार्थित के समर्थक अक्सर तर्क देते हैं कि हर सपाट नक्शा ग्लोब को थोड़ा-बहुत विकृत जरूर करता है। यह बात सच है, लेकिन यह मर्केटर के लगातार दुरुपयोग को सही नहीं ठहरा सकती। हर मापक उपकरण की अपनी सीमाएं होती हैं, लेकिन बेहतर विकल्प उपलब्ध होने पर हम जानबूझकर किसी अनुपयुक्त उपकरण का उपयोग जारी नहीं रखते। मेट्रो का नक्शा यात्रियों को सिर्फ इसलिए अजीब लगता है क्योंकि उन्हें गलत अनुपातों को ही सच मानने की आदत डाल दी गई है।

इक्वल अर्थ इसका एक बिल्कुल स्पष्ट और वैज्ञानिक विकल्प पेश करता है। 2018 में विकसित यह इक्वल-एरिया प्रोजेक्शन है। यह महाद्वीपों और देशों के सही आकार-संबंधों को जस का जस बनाए रखता है और साथ ही उनके वास्तविक स्वरूप को भी आसानी से पहचानने योग्य रखता है। चूंकि पृथ्वी गोल है, इसलिए कोई भी सपाट नक्शा एक ही समय में क्षेत्रफल, आकार, दूरी और दिशा-

फोटो: जेटी न्यूजकेन



मर्केटर मानचित्र ने सदियों तक

दुनिया की भौगोलिक समझ को

विकृत बनाए रखा। ‘इक्वल अर्थ’

मॉडल भौगोलिक सच्चाई को बहाल

कर उस औपनिवेशिक मानसिकता

को चुनौती देता है जो नक्शों के

जरिये रची गई थी

इन चारों को पूरी तरह सटीक रूप से नहीं दिखा सकता। लेकिन जब मकसद यह दिखाना हो कि दुनिया का एक क्षेत्र दूसरे की तुलना में वास्तव में कितना बड़ा है, तो इक्वल अर्थ वह सच सामने लाता है जिसे मर्केटर सदियों तक छिपाता रहा।

इस सुधार के विरोध को इतिहास और सत्ता के सवालों से अलग करके नहीं देखा जा सकता। नक्शे केवल समुद्र तटों और सीमाओं के रेखाचित्र भर नहीं होते। वे इस बात को आकार देते हैं कि लोग दुनिया को कल्पना कैसे करते हैं। बड़े भू-भाग सहज रूप से ध्यान खींचते हैं और अपने महत्व का अहसास कराते हैं। जब यूरोप और उत्तरी अमेरिका को विशाल दिखाया जाता है जबकि अफ्रीका और अन्य भूमध्यरेखीय क्षेत्रों को सिकोड़ दिया जाता है, तो नक्शा अनजाने में ही राष्ट्रों की एक ‘विजुअल रैंकिंग’ तैयार कर देता है।

मर्केटर ने अपने प्रोजेक्शन को किसी औपनिवेशिक पड़यंत्र के तहत तैयार नहीं किया था। लेकिन बाद के दौर में इसका दबदबा यूरोपीय शक्ति के केन्द्र वाली औपनिवेशिक दुनिया के बिल्कुल मुफीद बैठ गया। यूरोपीय साम्राज्यों का अफ्रीका, एशिया और अमेरिका के बड़े भू-भागों पर कब्जा था, और सबसे ज्यादा चलने वाले नक्शे ने साम्राज्यवादी केन्द्रों को बहुत बड़ा तथा गुलाम बनाए गए क्षेत्रों को बहुत छोटा दिखाया। औपनिवेशिक शासन के औपचारिक खात्मे के बाद भी यह प्रोजेक्शन बदस्तूर कायम रहा। राजनीतिक नक्शा तो पूरी तरह बदल गया, लेकिन पुरानी दुष्ट विकृति और पूर्वाग्रह कक्षाओं की दीवारों पर ज्यों के

त्यों लटक रहे। संयुक्त राष्ट्र महासभा में अमेरिका का विरोध विशेष रूप से आंखें खोलने वाला था। उसके प्रतिनिधि ने इस प्रस्ताव को एक कट्टरपंथी वैचारिक एजेंडे का हिस्सा बताते हुए खारिज कर दिया और यहां तक कह दिया कि 16वीं सदी के किसी नक्शे पर चर्चा करना संयुक्त राष्ट्र के स्तर से नीचे की बात है। यह तीखी प्रतिक्रिया दिखाती है कि यह बहस कितनी दुखती राग पर हाथ रखती है, क्योंकि यह एक स्थापित वैश्विक दृष्टिकोण को सीधी चुनौती देती है।

बेशक, केवल एक नक्शा बदल देने से गरीबी खत्म नहीं हो जाएगी, अंतरराष्ट्रीय कर्ज माफ नहीं हो जाएंगे और न ही अन्यायपूर्ण वैश्विक व्यवस्था में रातों-रात सुधार हो जाएगा। यह अपने-आप में अफ्रीकी देशों के सामने खड़े राजनीतिक और आर्थिक संकटों को हल नहीं कर देगा। लेकिन यह एक गलत पैमाना है। कोई यह दावा नहीं कर रहा कि एक निष्पक्ष नक्शा किसी ठोस आर्थिक और भौतिक न्याय का विकल्प बन सकता है।

यह सुधार सिर्फ अफ्रीका तक सीमित नहीं। मर्केटर दक्षिण अमेरिका के आकार को भी छोटा करता है और दक्षिण एवं दक्षिण-पूर्व एशिया, कैरिबियाई देशों और ओशनिया के कई देशों का गलत प्रतिनिधित्व करता है। इक्वल-एरिया नक्शे भूमि उपयोग, जनसंख्या घनत्व, पारिस्थितिकी तंत्र, खाद्य उत्पादन और जलवायु संवेदनशीलता की कहीं अधिक स्पष्ट और वैज्ञानिक समझ प्रदान करते हैं।

इक्वल अर्थ को अपनाने में आने वाले कथित खर्च का बहाना कोई गंभीर तर्क नहीं हो

सकता। हम ऐसे दौर में जी रहे हैं जहां उपग्रह सुदूर इलाकों की असाधारण तस्वीरें उतार सकते हैं और डिजिटल सेवाएं हर सड़क, इमारत और दुकान को मैप कर सकती हैं। तकनीकी कंपनियां एक सामान्य सॉफ्टवेयर अपडेट के जरिए वैश्विक स्क्रीन बदल सकती हैं। प्रकाशक नियमित रूप से पाठ्यपुस्तकों के नए संस्करण छापते हैं। स्कूल हर साल शिक्षण सामग्री बदलते हैं। यह दलील बिल्कुल गले नहीं उतरती कि हम दुनिया की हर गली का नक्शा तो बना सकते हैं, लेकिन दुनिया के नक्शे को सही नहीं कर सकते।

संयुक्त राष्ट्र को अब खुद उदाहरण पेश करते हुए आगे बढ़ना चाहिए। उसकी एजेंसियों को सापेक्ष आकार दिखाने वाले हर मौके पर इक्वल-एरिया प्रोजेक्शन का ही उपयोग करना चाहिए। सरकारों को अपने स्कूली पाठ्यक्रमों और आधिकारिक प्रकाशनों को संशोधित करना चाहिए। मीडिया संस्थानों को अपनी खबरों में इस्तेमाल होने वाले नक्शों की समीक्षा करनी चाहिए। तकनीकी कंपनियों को वैश्विक स्तर पर ग्लोब या इक्वल-एरिया प्रोजेक्शन दिखाना चाहिए, जबकि नौवहन की आवश्यकता वाले टूल्स में मर्केटर को बनाए रखा जा सकता है। शिक्षकों को भी छात्रों को यह समझाना चाहिए कि अलग-अलग नक्शों के प्रोजेक्शन में क्या बुनियादी अंतर होता है, ताकि नई पीढ़ी नक्शों को अकस्टय सच मानने के बजाय उन पर तार्किक सवाल उठाना सीख सके। ■

अशोक स्वेन स्वीडन की उसला यूनिवर्सिटी में पीएस एंड कविललट रिसर्च के प्रोफेसर हैं

जलील अख्तर के दोज़ख जैसे दिन

उत्तर दिनाजपुर के एक हाट से मवेशी बाजार को बंद करने, वोटर लिस्ट से नाम कटने और एक भारतीय नागरिक को ‘बांग्लादेशी’ बनाने की कहानी

बिप्लब नायक

रसाखोवा उत्तरी बंगाल के उत्तर दिनाजपुर जिले के सबसे पुराने और सबसे बड़े साप्ताहिक बाजारों में से एक है। कभी यहां रविवार को हाट लगा करता था, जिसमें दूर-दराज से खरीदने-बेचने वाले जुटते थे।

यह साप्ताहिक बाजार मूलतः ‘गोरूर हाट’ (मवेशी बाजार) हुआ करता था, जो एक बड़े भू-भाग में फैला था। किसान, गृहस्थ, पशुपालक और ग्वाले से लेकर कसाई तक यहां मवेशियों की खरीद-बिक्री के लिए आते थे। गाय-बैल को परखने का सबका अपना तरीका था: कोई उसके दांत गिनता, तो कोई उसकी पीठ और पुट्टों को थपथपाकर देखता। रविवार के इस मवेशी बाजार की हलचल करनदिघी के ग्रामीण अर्थतंत्र की रीढ़ होती थी। इसके इर्द-गिर्द अन्य तरह के बाजार फलते-फूलते: फल-सब्जियों की दुकानें, जूट, धान और चावल की आढ़तें, तथा दालों- विशेष रूप से भुनी हुई ‘मषकलाई’ (उड़द) दाल-का कारोबार। हफ्ते के बाकी दिनों में भी यहां कुछ-न-कुछ खरीद-बिक्री होती रहती थी। दूर-दराज के गांवों के लोग नियमित रूप से इकट्ठा होते, और इसी कारण हाट के आसपास स्कूल, मंदरसे, छात्रावास और सरकारी दफ्तर भी बनते चले गए। ग्रामीण जीवन के सदियों के ताने-बाने से बना रसाखोवा आम लोगों के जीवन की पहचान-सा बन गया था।

29 जुलाई 2026 का दिन। रायगंज बस डिपो से सुबह सात बजे रवाना हुई सरकारी बस ने हमें सुबह नौ बजे के कुछ पहले ही रसाखोवा उतार दिया। हम चार लोग थे। वह बुधवार था, यानी हाट का दिन नहीं, फिर भी बाजार का वह सन्नाटा बेहद अस्वाभाविक और डरावना लग रहा था। यहां पहुंचते सबसे पहले जिस चीज ने हमारा ध्यान खींचा, वह थी यहां की वीरानगी। कभी यहीं ‘गोरूर हाट’ लगा करता था।

अब सब खत्म हो चुका है। पिछली बकरीद से ठीक पहले मवेशियों की खरीद-बिक्री पर पूरी तरह पाबंदी लगा दी गई। पुलिस और हिन्दुत्ववादी लठैत रसाखोवा पहुंचे और मवेशी हाट के तमाम निर्माणों को तोड़ डाला। अब यह बाजार दो माह से भी ज्यादा समय से बिल्कुल बंद है।

हमने कुछ दुकानदारों और ‘टोटो’ (बैटरी-चालित ई-रिक्शा) चालकों से बात की। उन्होंने हाट की सीमाओं की ओर इशारा करते हुए बताया कि कैसे इन दो महीनों में ही मवेशी हाट की जमीन के कई हिस्सों पर अवैध कब्जा हो चुका है। वहां नए पक्के दुकाननुमा कमरे बना दिए गए हैं, लेकिन इन्हें कोई अंदाजा नहीं कि वहां कैसी दुकानें खुलने वाली हैं। उनसे बात करते हुए उनमें घर कर गई दहशत को साफ महसूस किया जा सकता है।

हम हाट में एक चाय की दुकान पर पहुंचे और वहां एक अंधेड़ उम्र के मुस्लिम दुकानदार से बातचीत शुरू की। वह सुबह अपनी दुकान खोलकर चाय पीने आया था। हम अजनबी थे, इसलिए उसने पूछा कि हम कहां से आए हैं। तुरत ही बातचीत मवेशी हाट के बंद होने की ओर घूम गई। उसने बताया कि बात सिर्फ रसाखोवा की नहीं: करनदिघी ब्लॉक के तीनों बड़े मवेशी हाट बंद करा दिए गए हैं।

वह कुछ देर चुप रहा, फिर बोला: ‘मवेशी पालकर बेचने वाले उन्हें घर बैठाकर कब तक खिला सकते हैं? इसलिए वे उन्हें औने-पौने दाम पर माथे पर तिलक लगाए और खुद को गौरक्षक कहने वालों को ही बेच देते हैं, और फिर यही लोग मवेशियों को मांस निर्यातकों के दलालों को बेच देते हैं। हम मुसलमान जब मवेशी खरीदते-बेचते हैं, सिर्फ तभी यह अपराध बनता है। इस बकरीद हम मुसलमानों ने मवेशी नहीं खरीदना तय किया, और हमने नहीं खरीदे। लेकिन अगर यही हाल रहा, तो हल जोतने के लिए बैल कहां से आएंगे? दुधारू मवेशी कहां से मिलेंगे?’

मैंने पूछा कि क्या उन्हें लगता है कि यह सदियों पुराना मवेशी बाजार अब हमेशा के लिए बंद हो गया है। उसने चुपती नजरो से घूरते हुए सवाल किया- ‘क्या ऐसा ही नहीं दिख रहा? जरा इस एसआईआर को देखिए। हमारे नाम



मतदाता सूची से काट दिए गए। क्या आप बता सकते हैं कि नाम दोबारा कैसे जुड़ेंगे? करनदिघी ब्लॉक में डेढ़ लाख लोगों के नाम वोटर लिस्ट से हटाए गए हैं। लगभग ये सब मुसलमान हैं, जिनमें अधिकतर महिलाएं हैं। लोगों ने अपने बक्से खंगाले, बाप-दादा और पुत्रों के जो भी कागज मिले, उन्हें थेलों में भरकर अफसरों के पास पहुंचे। लेकिन कुछ हासिल नहीं हुआ; वे वोट नहीं डाल सके। अब वे खौफ में जी रहे हैं कि न जाने कब बैंक, राशन की दुकान, थाने या किसी सरकारी दफ्तर में उनके सामने दीवार खड़ी कर दी जाएगी... वे कहते हैं कि ट्रिब्यूनल सभी नाम वापस जोड़ेगा। तीन महीने बीत चुके हैं और मजिस्ट्रेट कार्यालय में केवल 151 लोगों की सुनवाई हुई है। अब तो ट्रिब्यूनल ने भी काम बंद कर दिया है। किसी को नहीं पता कि क्या होगा, कब होगा। आपको पता है?’ मैंने सिर झुका लिया।

वह कहते हैं- ‘और वैसे भी वोटर लिस्ट में नाम होने से क्या हो जाता? बागरोई गांव के जलील अख्तर को देखिए। पुलिस उसे उठा ले गई और होलिंग सेंटर में डाल दिया। उसका नाम वोटर लिस्ट में था। उसने वोट भी डाला था। और अब वे उसे बांग्लादेशी बता रहे हैं।’

*

अखबार में जलील अख्तर के बारे में पढ़ने के बाद ही हम रसाखोवा आए थे। एक टोटो किराये पर लेकर बागरोई गांव के लिए निकल पड़े, जो करीब 25 किलोमीटर दूर था। रास्ते में जिन गांवों से हम गुजरे, वे मुख्य रूप से मुस्लिम-बहुल थे; कहीं-कहीं पक्के मकान थे, लेकिन ज्यादातर छप्पर वाली झोपड़ियां थीं। जलील अख्तर का भी घर कच्चा था। बगल में उनके ममेरे भाई मोतिउर रहमान का पक्का मकान था। मोतिउर की उम्र साठ के आसपास होगी। जिस कमरे में हम बैठे थे, उसी में वह रात को सोते हैं। जलील अख्तर का घर एक संकरी गली के ठीक छोर पर है। 29 जून की रात जब पुलिस जलील को उठा ले गई, तो मोतिउर को कोई आहत नहीं सुनाई दी। जलील बरामदे में लकड़ी की चौकी पर सो रहे थे। अंदर कमरे में सो रही उनकी पत्नी को भी कुछ पता नहीं चला।

मोतिउर ने बताया कि पुलिस दबे पांव आई, जलील को जगाया और साथ चलने को कहा। जब जलील ने किसी को आवाज देने की कोशिश की, तो पुलिस वाले ने उसकी कनपटी पर बंदूक सटा दी और कहा कि अगर जरा भी आवाज की, तो गोली मार देंगे।

सुबह जब उनकी पत्नी जागी और उन्हें गायब पाया, तो पहले सोचा कि वह फज्र की नमाज पढ़ने गए होंगे। लेकिन जब सुबह के बाद भी वह नहीं लौटे, तो मोतिउर और अन्य पड़ोसियों ने खोजबीन शुरू की, लेकिन कोई सुराग नहीं मिला। फिर, एक व्यक्ति ने बताया कि रात में पुलिस गांव में आई थी। तो क्या वही उन्हें ले गई? पास ही एक पुलिस कैप था। सब वहां पहुंचे। मोतिउर ने बताया, ‘कैप का बड़ा-बाबू अच्छा आदमी नहीं। कोई शिकायत करता है, तो वह शिकायतकर्ता और आरोपी दोनों को अलग-अलग बुलाकर डराता है और दोनों से पैसे ऐंठता है।’ बड़ा-बाबू ने बताया कि पुलिस के पास खुफिया जानकारी थी कि जलील बांग्लादेशी है। इसलिए, उसे बीएसएफ को सौंप दिया गया। ग्रामीण सन्न रह गए। उन्होंने सवाल किया कि जलील को बांग्लादेशी किसने कहा, क्योंकि उसका परिवार तो पीढ़ियों से यहीं रह रहा है। उसके परिवार में किसी ने आज तक बांग्लादेश की सीमा तक नहीं देखी। एसआईआर के बाद भी जलील का नाम वोटर लिस्ट में था और उसने वोट भी किया था। इस पर बड़ा-बाबू चिल्लाया- ‘हमारे पास पूरी जानकारी है। तुम लोगों के ऐसे आवाज उठाने के दिन लद चुके। अब सरकार बदल चुकी है।’

इसके बावजूद मोतिउर रहमान और दूसरे लोग पीछे नहीं हटे। उन्होंने जलील को वापस लाने के लिए हरसंभव

कानूनी रास्ता आजमाने का संकल्प लिया। मोतिउर ने हर वह दस्तावेज इकट्ठा किया जो वह जुटा सकते थे- जलील का वोटर कार्ड, राशन कार्ड, पंचायत के कागजात और अन्य पहचान पत्र। मोतिउर ने तो यह सबूत भी हासिल कर लिया कि जलील के दादा-दादी का नाम 1950 के दशक में हुए चुनावों की मतदाता सूची में भी था।

उत्तर दिनाजपुर के दालखोला थाने का इंस्पेक्टर-इन-चार्ज (आईसी) घटना के दिन से ही छुट्टी पर था। 9 जुलाई को जब वह काम पर लौटा, तो मोतिउर और जलील के परिवार के लोग तमाम दस्तावेज के साथ उससे मिले। इससे पहले, एसआईआर के दौरान कोटे गए नामों को बहाल करने की मांग को लेकर बनी ‘वोटिंग राइट्स प्रोटेक्शन कोऑर्डिनेशन कमेटी’ के इस्लामपुर संयोजक दुलाल राजवंशी को मदद से, वे इस्लामपुर के एसपी से भी मिले थे और उन्हें सारे सबूत दिखाए थे। तभी उन्हें पता चला कि जलील को फुलबाड़ी के होलिंग सेंटर ले जाया गया है। कागजात देखने के बाद इस्लामपुर के एसपी ने भरोसा दिलाया कि अगर कोई गलती हुई है, तो उसे सुधारा जाएगा। उन्होंने दालखोला आईसी से मिलने को कहा क्योंकि मामला उनके अधिकार क्षेत्र का था।

दालखोला आईसी ने भी कहा कि जलील को एक-दो दिन में छोड़ दिया जाएगा। लेकिन जब परेशान रिश्तेदार बार-बार गुहार लगाते रहे, तो वह झुंझलाकर बोल पड़ा: ‘तुम लोग बार-बार छोड़ दो-छोड़ दो रत रहे हो... अंदाजा भी है कि मुझपर कितना दबाव है? मुझे 500 लोगों को उठाने की लिस्ट दी गई है। कल ही पचास और नाम आए हैं।’ उसे ये नाम कौन भेज रहा था? ये सूचियां कहां और कैसे तैयार हो रही थीं? उसपर यह दबाव कौन बना रहा था?

मोतिउर और बाकी लोग उम्मीद और दहशत के बीच झूलते हुए गांव लौट आए। जलील अख्तर को दो बेटियां और दो बेटे हैं, सभी शादीशुदा हैं। परिवार बेहद गरीब है, इसलिए दोनों बेटे प्रवासी मजदूर के रूप में राज्य से बाहर काम करते हैं-एक दिल्ली में, दूसरा हैदराबाद में। जब उन्होंने सुना कि पिता को उठा लिया गया है, तो दोनों बदहवास हो गए। वे रोज फोन करते और रो पड़ते। लेकिन न तो उन्हें काम से छुट्टी मिल सकी और न वे घर आने लायक पैसे जुटा सके।

*

अब दालखोला थाने में दस्तावेज जमा किए दस दिन से अधिक बीत चुके थे। बार-बार मिन्तते करने पर एक ही जवाब मिलता: पुलिस जरूरी कामों में व्यस्त है और वह दस्तावेजों का सत्यापन नहीं कर पाई है। लेकिन परिवार को बताया गया कि जलील को फुलबाड़ी होलिंग सेंटर से चाकुलिया भेजा गया है। पुलिस के टालमटोल वाले जवाबों से तंग आकर ग्रामीणों ने विरोध प्रदर्शन का फैसला किया। 20 जुलाई को 300 से अधिक ग्रामीण जलील की रिहाई की मांग को लेकर रसाखोवा हाट में जुटे। पुलिस ने उन्हें घेर लिया। लिहाजा, वे जुलूस नहीं निकाल सके, लेकिन उनके इस स्वतःस्फूर्त विरोध ने ग्रामीणों में फैली दहशत के माहौल

को कुछ देर के लिए जरूर तोड़ दिया। अगली सुबह, जलील अख्तर का परिवार चाकुलिया होलिंग सेंटर पहुंचा। उन्हें बताया गया कि जलील अब वहां नहीं, लेकिन किसी ने नहीं बताया कि अब वह कहां है।

वोटिंग राइट्स प्रोटेक्शन कोऑर्डिनेशन कमेटी की मदद से रायगंज के उत्तरी दिनाजपुर प्रेस क्लब में प्रेस कॉन्फ्रेंस की गई। जलील की पत्नी तोफा बीबी और बेटे कुलसुम खातून ने अपनी बात रखी। अगली सुबह पुलिस ने उन्हें सूचना दी कि जलील अख्तर को इस्लामपुर अदालत में पेश किया जा रहा है।

मोतिउर भागते हुए अदालत पहुंचे। वहां पुलिस ने पूरी तरह से मनगढ़ंत और फर्जी रिपोर्ट पेश की थी- जलील को पहले से हिरासत में रखे जाने पर एक भी शब्द नहीं था; पुलिस का दावा था कि जलील को एक ही दिन पहले गिरफ्तार किया गया था। उसे बांग्लादेश के ठाकुरगांव जिले के हरिपुर का निवासी घोषित कर दिया गया था। दावे के समर्थन में कोई सबूत पेश नहीं किया गया; अदालत को केवल इतना बताया गया कि ‘सत्यापन’ चल रहा है और प्रक्रिया पूरी होने के बाद सारे सबूत पेश किए जाएंगे। इसी आधार पर पुलिस ने हिरासत की मांग की और अदालत ने रिमांड मंजूर कर लिया।

कई हफ्ते और कई अदालती तारीखों के बाद भी पुलिस न तो ‘सत्यापन’ पूरा कर पाई है और न अपने इस मनगढ़ंत मामले का कोई ‘सबूत’ दे पाई है। वे बार-बार अगली तारीख मांगते हैं और अदालत उन्हें तारीख देती जा रही है।

इस बीच, जलील की तबीयत काफी खराब रहने लगी है और परिवार को उनकी जान की चिंता सताने लगी है। चाकुलिया में बीएसएफ के जवान बताते हैं कि जलील बमशुकल कुछ खाते हैं। वह बिलख-बिलख कर रोते हैं और कहते हैं: ‘मैं कभी बांग्लादेश नहीं गया। वहां किसी को नहीं जानता। मैं कहां जाऊंगा? उधर धकेलने के बजाय तुम मुझे यहीं मार डालो।’

इस्लामपुर लॉक-अप में जलील ने रिश्तेदारों को बताया कि फुलबाड़ी होलिंग सेंटर में उनके साथ बाईस अन्य बंदी भी थे। सभी को बांग्लादेश में ‘पुश-बैक’ करने के लिए ले जाया गया था। उन्हें नहीं पता कि उनका क्या हुआ। चाकुलिया होलिंग सेंटर में 6-7 और भी बंदी थे। जलील को नहीं पता कि उनका क्या हुआ।

*

उस दिन जब हम मोतिउर के घर बैठे थे, गांव के लोग आसपास जमा हो गए। इसी बीच, किसी ने सबके लिए चाय-बिस्कुट ला दिए। एक अंधेड़ बड़बड़ा रहा था: ‘वे अपीलें और अर्जियां से कुछ नहीं सुनने वाले। अगर लोग दिल्ली की तरह ही सड़कों पर उतर आएँ, तभी वे झुकने पर मजबूर होंगे’ मैं चौंक गया। कुछ ही दिन पहले जंतर-मंतर पर हुए छात्र प्रदर्शन की गूंज इस गांव तक भी पहुंच चुकी थी जहां किसी के पास न तो पैसा है, न कोई पहुंच, और न ही नीट की परीक्षा में बैठने या डॉक्टर बनने का कोई ख्वाब!

टोटो चालक ने पहले ही कह दिया था कि वह हमारा इंतजार नहीं करेगा। लेकिन बागरोई पहुंचने के बाद वह खुशी-खुशी रुकने को तैयार हो गया और उसने पूरी बातचीत को गहरी दिलचस्पी के साथ देखा और सुना। दोपहर ढलने लगी थी जब हम फिर से टोटो में बैठे और रसाखोवा की ओर चल पड़े।

जब भी इस्लामपुर अदालत में जलील के मामले की सुनवाई होती है, मैं मोतिउर रहमान को फोन करता हूं। यही जवाब मिलता है- ‘पुलिस ने अब तक रिपोर्ट जमा नहीं की है... उन्हें एक और तारीख मिल गई है... मुझे नहीं पता कि क्या होगा... क्या वे जलील को मार डालेंगे?’

भला मैं क्या जवाब देता? ■

यह आलेख बांग्ला देश पत्रिका ‘गुरुकुंडली’ में प्रकाशित विस्तृत रिपोर्ट का संक्षिप्त अनुवाद है



नेहरू सेंटर ऑडिटोरियम

वेस्टर्न एक्सप्रेसवे पर मुंबई के हृदयस्थल में, बीकेसी से सटे, एयरपोर्ट के पास

इन सबके लिए सर्वोत्तम:

- कॉरपोरेट/एचआर मीटिंग, सेमिनार या ट्रेनिंग सेशन
- व्याख्यान
- बुक लॉन्च/ बुक रीडिंग
- पैनल डिस्कशन
- साहित्यिक/सांस्कृतिक कार्यक्रम

ऑडिटोरियम उपलब्ध है

-पूरा दिन सुबह 10 बजे से शाम 8 बजे

-आधा दिन सुबह 10 बजे से दोपहर 2 बजे या शाम 4 बजे से शाम 8 बजे



बुकिंग के लिए कृपया संपर्क करें: +91 22-26470102, 8482925258

या हमें लिखें: contact@nehrucentre.com

नेहरू सेंटर ऑडिटोरियम, दूसरा फ्लोर, एजेएल हाउस, 608/1ए, प्लॉट नं. 2, एस. नं. 341, पीएफ ऑफिस के पास, बांद्रा, मुंबई- 400051



छोटी होती दुनिया में आज़ादी की खुरचन

लघु पत्रिका साहित्य की स्वतंत्र आत्मा का छोटा-सा घर है। किसी भी लोकतंत्र में इसे बचाए रखना अहम

शैलेन्द्र चौहान

भारतेंदु हरिश्चंद्र को याद करने के लिए उनकी जयंती (१ सितंबर) को लेकर हिन्दी साहित्य में हर वर्ष कुछ औपचारिक वाक्य दोहराए जाते हैं—आधुनिक हिन्दी साहित्य के जनक, पत्रकारिता के अग्रदूत, राष्ट्रीय चेतना के प्रवक्ता आदि। लेकिन किसी लेखक को सचमुच याद करना उसके नाम का स्मरण करना नहीं, उसके समय और उसके सरोकारों के सामने अपने समय को खड़ा करना है। इस अर्थ में भारतेंदु की जयंती हमारे लिए उत्सव से अधिक आत्मपरीक्षण का अवसर होनी चाहिए।

विशेषकर इसलिए कि भारतेंदु की साहित्यिक सक्रियता को पत्रकारिता से अलग करके नहीं देखा जा सकता। उन्होंने भाषा को केवल साहित्यिक अभिव्यक्ति का माध्यम नहीं माना था। भाषा उनके लिए समाज को देखने, उसे संबोधित करने और उसके भीतर चेतना पैदा करने का माध्यम थी। पत्रकारिता का अर्थ भी उनके लिए केवल समाचार का प्रसार नहीं था। वह अपने समय के प्रश्नों से मुठभेड़ थी।

आज यदि हम भारतेंदु की उस परंपरा को आगे बढ़ाने वाली हिन्दी की लघु पत्रिका को खोजें तो शापद सबसे पहले एक असुविधाजनक प्रश्न सामने आएगा—सही मायने में लघु पत्रिकाएं अब बची ही कितनी हैं?

यह प्रश्न इसलिए महत्वपूर्ण है कि लघु पत्रिका को केवल उसके आकार, प्रसार संख्या या आर्थिक स्थिति से परिभाषित करना उसके अर्थ को बहुत छोटा कर देना होगा। लघु पत्रिका वह नहीं है जिसकी प्रतियां कम छपती हैं। वह वह है जो बड़े संस्थागत संरक्षण के बिना भी अपनी स्वतंत्र आवाज बचाए रखती है। जिसकी संपादकीय मेज पर बाजार, सत्ता, विज्ञापनदाता और प्रतिष्ठान का अदृश्य हाथ नहीं होता। जो यह तय करती है कि क्या प्रकाशित किया जाना चाहिए, यह देखकर नहीं कि उससे कितने लोग नाराज होंगे या कितने प्रभावशाली लोग प्रसन्न।

लघु पत्रिका की असली पहचान उसकी आर्थिक लघुता नहीं, उसकी नैतिक स्वतंत्रता थी। हिन्दी में लघु पत्रिका आंदोलन का इतिहास इसी स्वतंत्रता का इतिहास है। अनेक पत्रिकाएं बहुत छोटे संसाधनों से निकलीं।

भाषा को कैलेंडर नहीं जीवन में मिले जगह

हिन्दी अपने समाज में जीवित है। खतरा उसकी बोलने वाली

जनता से नहीं, औपचारिकताओं से

शैलेन्द्र चौहान

सितंबर आते ही हिन्दी को याद करने का मौसम आ जाता है। दफ्तरों में हिन्दी सप्ताह, हिन्दी पखवाड़ा और हिन्दी दिवस की तैयारियां शुरू हो जाती हैं। पोस्टर लगते हैं, प्रतियोगिताएं होती हैं, भाषण दिए जाते हैं, पुरस्कार बांटे जाते हैं और हिन्दी की महिमा पर कुछ गंभीर तथा कुछ अत्यंत गंभीर वाक्य बोले जाते हैं। अधिकारी हिन्दी के प्रति अपनी प्रतिबद्धता व्यक्त करते हैं। कर्मचारी हिन्दी में हस्ताक्षर करने या कुछ पंक्तियां लिखने के लिए प्रेरित किए जाते हैं। सोशल मीडिया पर हिन्दी के गौरव की घोषणाएं दिखाई देती हैं।

फिर सितंबर बीत जाता है। हिंदी भी जैसे अपनी निर्धारित जगह भेज दी जाती है। यह स्थिति केवल हास्यास्पद नहीं, चिंताजनक भी है। जिस भाषा को करोड़ों लोग बोलते, पढ़ते और समझते हैं, उसे वर्ष में एक दिन या एक सप्ताह के उत्सव की जरूरत क्यों पड़ती है? क्या हिन्दी इतनी कमजोर है कि उसे हर साल एक सरकारी आयोजन के माध्यम से जीवित होने का प्रमाण देना पड़े? या समस्या हिन्दी की नहीं, भाषा-दृष्टि की है?

14 सितंबर 1949 को संविधान सभा ने हिन्दी को संघ की राजभाषा के रूप में स्वीकार किया। इसी घटना की स्मृति में हिन्दी दिवस मनाया जाता है। संविधान के अनुच्छेद 343 में संघ की राजभाषा हिन्दी और लिपि देवनागरी निर्धारित की गई। यह भारतीय भाषायी इतिहास की महत्वपूर्ण घटना थी। लेकिन इसे समझते समय यह तथ्य भी नहीं भूलना चाहिए कि भारत की कोई एक संवैधानिक ‘राष्ट्रभाषा’ नहीं है। हिन्दी का राजभाषा के रूप में स्थान है, जबकि भारतीय संविधान की आठवीं अनुसूची में अनेक भाषाओं को मान्यता प्राप्त है।

इस अंतर को जानना इसलिए जरूरी है कि हिन्दी के नाम पर अक्सर राष्ट्र और भाषा को एक-दूसरे का पर्याय बना दिया जाता है। हिन्दी का सम्मान किसी दूसरी भारतीय भाषा के अपमान से नहीं बढ़ता। हिन्दी की शक्ति तमिल, तेलुगु, बंगाली, मराठी, मलयालम, कन्नड़, असमिया, पंजाबी, उड़िया, उर्दू या किसी अन्य भारतीय भाषा को पीछे धकेलने में नहीं, बल्कि उनके साथ संवाद में है।

भारत का राष्ट्रवाद बहुभाषी है। भारत की एकता का आधार भाषायी एकरूपता नहीं है। हिन्दी का इतिहास स्वयं इस बात का प्रमाण है। हिन्दी किसी प्रयोगशाला में तैयार की गई भाषा नहीं है। वह सदियों के भाषायी संपर्क, सामाजिक



भारतेंदु हरिश्चंद्र जयंती पर विशेष

संपादकों ने अपनी आय से कागज खरीदा, छपाई का खर्च उठाया, डाक का पैसा दिया, प्रतियां बांंधीं और उन्हें पाठकों तक पहुंचाया। कई बार पत्रिका निकालना आर्थिक दृष्टि से घाटे का सौदा था। लेकिन उसके पीछे एक दूसरी अर्थव्यवस्था काम करती थी—विश्वास की अर्थव्यवस्था। संपादक को विश्वास था कि जो बात मुख्यधारा नहीं कह रही, उसे कहना जरूरी है; जो लेखक स्थापित नहीं है, उसकी आवाज भी साहित्य के लिए महत्वपूर्ण है; जिस सामाजिक पीड़ा को अखबार या सत्ता अनदेखा कर रही है, साहित्य को उसे दर्ज करना चाहिए।

यह विश्वास बहुत कमजोर हुआ है। आज प्रकाशन के साधन पहले से कहीं अधिक हैं। डिजिटल प्लेटफॉर्म हैं, ब्लॉग हैं, पोर्टल हैं, ऑनलाइन पत्रिकाएं हैं, सोशल मीडिया है। कुछ ही मिनटों में हजारों लोगों तक कोई सामग्री पहुंचाई जा सकती है। लेकिन संचार के साधनों का विस्तार अपने आप में वैचारिक स्वतंत्रता का विस्तार नहीं है। सूचना की बाढ़ और स्वतंत्र विचार—दो अलग चीजें हैं।

अभिव्यक्ति के असंख्य मंच हैं, लेकिन क्या उतने ही स्वतंत्र संपादक हैं? लघु पत्रिका का संपादक कभी केवल सामग्री का चयन करने वाला व्यक्ति नहीं था। वह अपने समय के प्रति उत्तरदायी था। सामने यह सवाल रहता था कि वह किसके पक्ष में खड़ा है। सत्ता के पक्ष में या मनुष्य के पक्ष में? बाजार के पक्ष में या श्रम के पक्ष में? स्थापित प्रतिष्ठा के पक्ष

लघु पत्रिका ने अपने अस्तित्व को ही

प्रतिरोध बनाया। सही मायने में लघु

पत्रिका वही होगी जो अपने समय के

अंधेरे में किसी सत्ता की रोशनी उधार

लेकर नहीं, अपनी छोटी-सी लौ से

रास्ता देखने की कोशिश करे



जिस हिन्दी को 14 सितंबर 1949 को संविधान सभा ने राजभाषा के रूप में स्वीकार किया, क्या वह इतनी कमजोर है कि हर साल उसे अपने जीवित होने का प्रमाण देना पड़े?

हटाकर हिन्दी को मजबूत करने की कल्पना न व्यावहारिक है, न आवश्यक।

समस्या अंग्रेजी नहीं है। समस्या अंग्रेजी के माध्यम से पैदा होने वाली सामाजिक असमानता है। जब किसी बच्चे की क्षमता से अधिक उसके अंग्रेजी ज्ञान को महत्व मिलने लगे, जब नौकरी की योग्यता और सामाजिक प्रतिष्ठा भाषा की एक विशेष दक्षता से तय होने लगे, जब किसी भारतीय भाषा में पढ़ा विद्यार्थी ज्ञान की दुनिया के दरवाजे पर केवल इसलिए ठिठक जाए कि उसे अंग्रेजी में प्रवेश-पत्र नहीं मिला—तब भाषा केवल संचार का माध्यम नहीं रहती। वह सत्ता का औजार बन जाती है।

हिन्दी को अंग्रेजी से लड़ाने के बजाय हमें हिन्दी को इतना सक्षम बनाना होगा कि अंग्रेजी जानने वाला व्यक्ति भी हिन्दी में ज्ञान पाने को उपयोगी समझे। यहीं हिन्दी की असली परीक्षा शुरू होती है।

हम हिन्दी की उन्नति की बात करते हैं, लेकिन हिन्दी में आधुनिक ज्ञान के निर्माण को लेकर कितने गंभीर हैं? कितनी उच्चस्तरीय वैज्ञानिक पुस्तकें हिन्दी में लिखी जा रही हैं? कितने महत्वपूर्ण अंतरराष्ट्रीय शोधों के अच्छे अनुवाद उपलब्ध हैं? कितने विश्वविद्यालयों में विद्यार्थी बिना अंग्रेजी के अतिरिक्त बोझ के हिन्दी में उच्च शिक्षा प्राप्त कर सकता है?

हिंदी को सचमुच विकसित करना है तो उसे केवल साहित्य और भाषण की भाषा नहीं, ज्ञान की भाषा बनाना होगा। यहां हमारी शिक्षा-व्यवस्था की विडंबना सामने आती है। बच्चे को हिन्दी पढ़ाई जाती है, लेकिन जैसे-जैसे वह उच्च शिक्षा की ओर बढ़ता है, ज्ञान की मुख्य खिड़की अंग्रेजी हो जाती है। हिन्दी माध्यम का विद्यार्थी कई बार विषय से पहले भाषा से लड़ता है। परिणाम यह कि हिन्दी उसके लिए ज्ञान की भाषा के बजाय परीक्षा की भाषा बन जाती है। हिन्दी

वंशावली थी, न संस्थागत परिचय, न पुरस्कारों की चमक।

लेकिन अब साहित्यिक संसार में एक दूसरी तरह की व्यवस्था मजबूत हुई है। संपर्क, पहचान, समूह, पुरस्कार, समितियां, संस्थाएं और सत्ता-समीपता धीरे-धीरे साहित्यिक प्रतिष्ठा के महत्वपूर्ण साधन बन गए हैं। विचारधारा पिछली सीट पर चली गई है और अवसरवाद ने आगे की सीट पर कब्जा कर लिया है। गुटबाजी और निजी पसंद-नापसंद कई बार साहित्यिक निर्णयों को प्रभावित करती दिखाई देती हैं।

यह केवल साहित्य की समस्या नहीं है। यह हमारे समय की व्यापक राजनीतिक-सामाजिक संस्कृति का भी हिस्सा है। सत्ता के साथ निकटता को अब हमेशा शर्म की चीज नहीं माना जाता। कई बार उसे उपलब्धि की तरह प्रस्तुत किया जाता है। सत्ता से प्रश्न पूछने वाला लेखक ‘असुविधाजनक’ समझा जा सकता है और सत्ता के निकट रहने वाला ‘व्यावहारिक’। विरोध को अपरिपक्वता और समझौते को बुद्धिमत्ता मानने की प्रवृत्ति बढ़ी है।

ऐसे समय में लघु पत्रिका का अर्थ ही संकट में पड़ जाता है, क्योंकि लघु पत्रिका का जन्म ही सुविधा से बाहर हुआ था। वह किसी सरकारी कार्यालय की परियोजना नहीं थी। वह किसी कॉरपोरेट ब्रांड का सांस्कृतिक परिशिष्ट नहीं थी। वह किसी राजनीतिक दल की प्रचार सामग्री नहीं थी। वह किसी साहित्यिक दरबार में प्रवेश का पासपोर्ट नहीं थी।

वह एक स्वतंत्र छोटी आवाज थी। उस आवाज की शक्ति इस बात में थी कि वह किसी बड़ी आवाज के सामने अपनी आवाज खोती नहीं थी। इसलिए व्यक्तिगत प्रयास से निकलने वाली पत्रिका का महत्व बना हुआ है।

भारतेंदु को याद करते हुए इन प्रश्नों से बचना संभव नहीं है। भारतेंदु के समय में भी सत्ता थी, औपनिवेशिक दबाव था, सामाजिक रूढ़ियां थीं, आर्थिक संकट था। लेकिन उन्होंने भाषा और पत्रकारिता को अपने समय के भीतर सक्रिय हस्तक्षेप का माध्यम बनाया।

लघु पत्रिका के सामने सबसे बड़ा प्रश्न उसका प्रसार नहीं, उसका पक्ष है। वह किसके साथ है? उस मनुष्य के साथ जिसकी जमीन चली गई? उस मजदूर के

साथ जिसकी मेहनत से शहर खड़ा हुआ? उस स्त्री के साथ जिसका श्रम अदृश्य है? उस दलित युवक के साथ जिसे बराबरी का अधिकार अभी भी कागज पर अधिक मिलता है, जीवन में कम? उस आदिवासी समुदाय के साथ जिसे विकास के नाम पर अपनी जमीन छोड़नी पड़ती है? उस बेरोजगार युवा के साथ जिसे हर चुनाव में भविष्य का सपना दिखाया जाता है?

यदि लघु पत्रिका इन प्रश्नों से दूर चली जाती है, तो वह केवल एक और साहित्यिक पत्रिका रह जाएगी। उसका ‘लघु’ होना बचा रहेगा, लेकिन उसका ऐतिहासिक अर्थ समाप्त हो जाएगा।

डिजिटल माध्यम ने छोटे प्रकाशनों को अभूतपूर्व अवसर दिए हैं। ई-पत्रिका बिना बड़े खर्च के देश के दूर-दराज के पाठकों तक पहुंच सकती है। नए लेखक अपने मंच बना सकते हैं। सीमित संसाधनों वाला संपादक भी व्यापक पाठक समुदाय तक पहुंच सकता है। लेकिन माध्यम बदलने से मूल्य नहीं बदलते।

भारतेंदु की 176वीं जयंती पर शायद हमें यही पुनः याद करना चाहिए कि पत्रकारिता और साहित्य का पहला धर्म लोकप्रिय होना नहीं, जरूरी होना है। जरूरी बात हमेशा लोकप्रिय नहीं होती। सच हमेशा सुविधाजनक नहीं होता।

प्रतिरोध हमेशा पुरस्कार योग्य नहीं होता। स्वतंत्रता कभी मुफ्त में नहीं मिलती। लघु पत्रिका की सबसे बड़ी ताकत यही थी कि उसने कभी-कभी इस कीमत को स्वीकार किया। उसने अपने अस्तित्व को ही एक तरह का प्रतिरोध बनाया।

आज जब साहित्य में भी चमक, दृश्यता और संस्थागत मान्यता का दबाव बढ़ रहा है, तब उस आवाज को फिर से पहचानने की जरूरत है। सही मायने में लघु पत्रिका वही होगी जो अपने समय के अंधेरे में किसी सत्ता की रोशनी उधार लेकर नहीं, अपनी छोटी-सी लौ से रास्ता देखने की कोशिश करे।

भारतेंदु को श्रद्धांजलि यही होगी कि हम ऐसी पत्रिकाओं को बचाएं, बनाएं और पढ़ें, क्योंकि लघु पत्रिका केवल साहित्य का एक माध्यम नहीं है। वह साहित्य की स्वतंत्र आत्मा का छोटा-सा घर है। किसी भी लोकतंत्र में ऐसे घरों का बचे रहना बहुत जरूरी है। ■

असफल दिखाई देती है।

इसलिए हिन्दी दिवस पर सबसे पहले हिन्दी की प्रशंसा करने के बजाय हमें स्वयं से कुछ असुविधाजनक प्रश्न पूछने चाहिए। क्या हिन्दी को सचमुच ज्ञान की भाषा बनाना चाहते हैं? क्या हिन्दी माध्यम के विद्यार्थी को अंग्रेजी माध्यम के विद्यार्थी के बराबर अवसर देना चाहते हैं? क्या हिन्दी में गंभीर विज्ञान और तकनीकी साहित्य तैयार करने को तैयार हैं? क्या दूसरी भारतीय भाषाओं से सीखने और उन्हें हिन्दी में लाने के लिए तैयार हैं? क्या हिन्दी लिखते समय उसकी वर्तनी और व्याकरण के प्रति उतने ही सजग हैं जितने उसके गौरव के प्रति? सबसे बड़ा सवाल कि क्या हमें हिन्दी चाहिए या हिन्दी के नाम पर वार्षिक आयोजन?

यदि उत्तर दूसरा है, तो हिन्दी दिवस, हिन्दी सप्ताह और हिन्दी पखवाड़ा इसी तरह चलते रहेंगे। मंच सजेगे, भाषण होंगे, प्रमाणपत्र बांटे जाएंगे और अगले सितंबर तक हिन्दी फिर हमारी प्राथमिकताओं से बाहर हो जाएगी। लेकिन यदि हिन्दी सचमुच चाहिए तो हिन्दी दिवस को उत्सव से अधिक आत्मालोचन का दिन बनाना होगा।

हिन्दी को बचाने की जरूरत नहीं है। उसे बचाने की घोषणा करने वालों से बचाने की जरूरत है। हिन्दी अपने समाज में जीवित है। उसे खतरा उसकी बोलने वाली जनता से नहीं, हमारी औपचारिकताओं से है। भाषा तब मजबूत होती है जब उसमें लोग प्रेम करते हैं, सपने देखते हैं, ज्ञान अर्जित करते हैं, विज्ञान समझते हैं, न्याय मांगते हैं, सत्ता से सवाल करते हैं और अपने समय की जटिलताओं को व्यक्त करते हैं।

जिस दिन हिन्दी यह सब पूरी क्षमता के साथ करने लगेगी, उस दिन हिन्दी दिवस मनाने की जरूरत शायद कम हो जाएगी, क्योंकि जीवित भाषाओं को कैलेंडर में जगह नहीं चाहिए। उन्हें जीवन में जगह चाहिए। ■